जैनधर्म की कहानियाँ

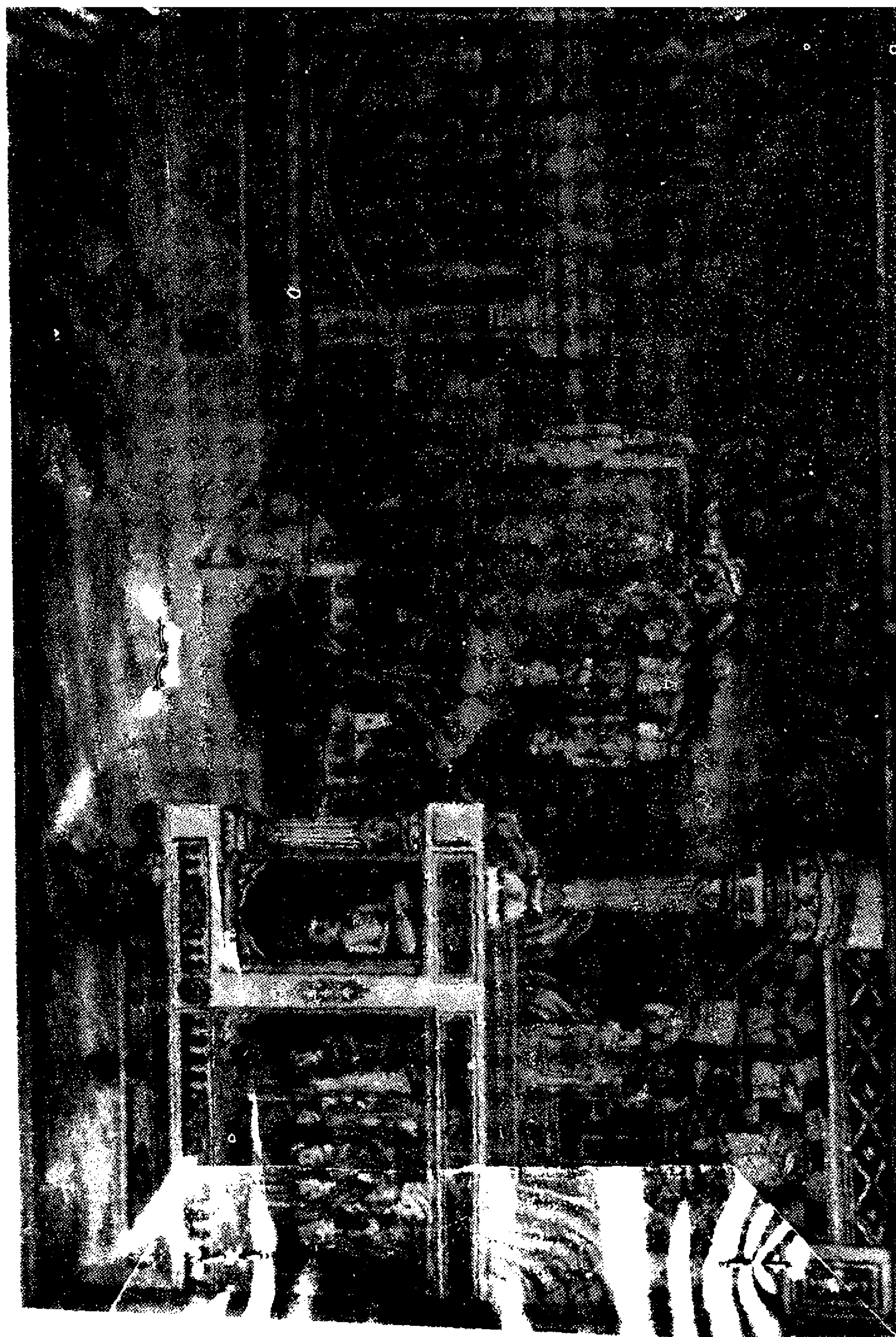


प्रकाशक

अखिल भा. जैन युवा फैडरेशन खैरागढ़

श्री कहान स्मृति प्रकाशन -

सं:- ब्र. विमला बेन, ज



जैनधर्म की कहानियाँ
(भाग ७)

श्री जम्बूस्वामी चरित्र

संकलन :
ब्र. विमला जैन, जबलपुर

सम्पादकद्वय :
राकेश जैन शास्त्री, नागपुर
वीरसागर जैन शास्त्री, खतौली

प्रकाशकद्वय :
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन
शाखा - खैरागढ़ - ४९१८८१, जि. राजनाँदगाँव (म.प्र.)
श्री कहान स्मृति प्रकाशन
संत सान्निध्य, सोनगढ़ - ३६४२५० (सौराष्ट्र)

श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला का ११ वाँ पुष्प

प्रथम आवृति - १०,०००

दिनांक १४ से २८ मई १९९५

श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर देवलाली के अवसर पर

मूल्य - दस रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

* अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा-खैरागढ़
  श्री खेमराज प्रेमचंद जैन, 'कहान-निकेतन'
  खैरागढ़, - ४९१८८१ जि. राजनाँदगाँव (म.प्र.)
* श्री टोडरमल स्मारक भवन
  ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५ (राजस्थान)
* ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन
  'कहान रश्मि', सोनगढ़, - ३६४२५० जि. भावनगर (सौराष्ट्र)

मुद्रण व्यवस्था :

राकेश जैन शास्त्री, मे. प्रिंटिंग हाउस
वैसाखिया मार्केट, गुड़गंज, इतवारी
नागपुर (महाराष्ट्र) - ४०००२
फोन - ५३६८४७ (आफिस) ४६३६९ (घर) ४९३५८ (प्रेस)

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है; उन्हीं के मार्गदर्शन में **अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन** की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन २६ दिसम्बर १९८० में पं. ज्ञानचंदजी विदिशा के शुभ हस्ते किया गया था। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है। इसके अन्तर्गत सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, कैसेट लायब्रेरी, साप्ताहिक गोष्ठी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं।

साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् १९८८ में **श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला** की स्थापना की गई। साथ ही इस ग्रन्थमाला के आजीवन ग्रन्थमाला परम संरक्षक सदस्य ५००१/- में तथा संरक्षक सदस्य रु. १००१/- में भी बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री के अत्यंत निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात् करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया। ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. २५०६ में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था। ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृतदेह के समीप बैठे-बैठे संकल्प किया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा। तब **श्री कहान स्मृति प्रकाशन** का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी भाषा के प्रकाशनों में भी श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत जैनधर्म की कहानियाँ भाग १-२-३-४-५,६ लघु जिनवाणी संग्रह अनुपम संकलन, चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती),

पाहुडदोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र का संयुक्त प्रकाशन तथा विराग सरिता - इसप्रकार दस पुष्प प्रकाशित किये जा चुके हैं। अब यह ग्यारहवाँ पुष्प प्रकाशित हुए हमें अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

जैन बाल साहित्य अधिक से अधिक संख्या से प्रकाशित हों, ऐसी भावी योजना में सुकुमाल चरित्र, श्रीपाल चरित्र, सुदर्शन चरित्र आदि प्रकाशित करने की योजना है।

प्रस्तुत भाग में 'श्री जम्बूस्वामी चरित्र' का प्रकाशन किया जा रहा है। इसकी रचना आधुनिक शैली में पूर्व रचित ग्रन्थों के आधार पर ही की गई है। साथ ही इसमें वैराग्यवर्धक प्रसंगों में अध्यात्म रस गर्भित सिद्धान्तों की भी चर्चा की गई है। उदाहरणार्थ - समवसरण, २८ मूलगुण, १२ तप एवं २२ परीषहों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। सैद्धान्तिक वर्णन व अन्य प्रसंगों में भी पूर्वाचार्यों एवं रचनाकारों द्वारा रचित ग्रन्थों, गाथाओं, पद्यों तथा भजनों का इसमें समावेश किया गया है। यद्यपि उनका प्रासंगिक उल्लेख होना चाहिये था, परन्तु प्रवाह की दृष्टि से उनका वहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, अत: प्रबुद्धवर्ग क्षमा करे। हम उन-उन आचार्यों, रचनाकारों एवं उनके रचित ग्रन्थों का अनन्त-अनन्त उपकार मानते हैं।

श्री जम्बूस्वामी चरित्र को प्रस्तुत स्वरूप में प्रगट करने में ब्र. विमलाबेन ने बहुत मेहनत और लगन के साथ काम किया है, हम उनके बहुत-बहुत आभारी हैं। भविष्य में भी हम उनकी सेवायें प्राप्त करेंगे - ऐसा प्रयास है।

संपादन एवं संशोधन की दृष्टि से पं. श्री राकेश जैन शास्त्री नागपुर एवं पं. श्री वीरसागर जैन शास्त्री खतौली का सराहनीय सहयोग रहा है, अत: हम उनके भी आभारी हैं।

साहित्य प्रकाशन फण्ड एवं ग्रन्थमाला परम संरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रगट करते हैं, तथा आशा करते हैं कि भविष्य में भी इसीप्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत

मोतीलाल जैन — अध्यक्ष

प्रेमचंद जैन — साहित्य प्रकाशन प्रमुख

ग्रन्थमाला परम संरक्षक सदस्य

१. श्रीमती शांतिदेवी कोमलचंद जैन, नागपुर
हस्ते - सुपुत्र श्री अशोक जैन, नागपुर
२. श्रीमती पुष्पाबेन कांतिभाई मोटाणी, बम्बई
३. श्रीमती हंसुबेन जगदीशभाई लोदरिया, बम्बई
४. श्री फतेलाल दुलीचन्द बरडिया चेरिटेबल ट्रस्ट, राजनाँदगाँव
हस्ते - निर्मल बरडिया.
५. श्रीमती विजयाबेन हरगोविंददास मोदी, सोनगढ़
६. श्रीयुत प्रशान्त - अक्षय - सुकान्त - केवल
हस्ते - श्रीमती लीलाबेन सौभाग्यचन्द, लंदन.
७. श्रीमती पुष्पाबेन भीमजीभाई शाह,
हस्ते - श्रीमती सुचिता बेन, लंदन
८. श्री सुरेशभाई मेहता, बम्बई व श्री दिनेशभाई मेहता, मोरबी
९. श्री महेशभाई मेहता, बम्बई व श्री प्रकाशभाई मेहता, नेपाल
१०. श्री रमेशभाई, नेपाल व श्री राजेशभाई मेहता, मोरबी
११. श्रीमती वसंतबेन जेवंतलाल मेहता, मोरबी

ग्रन्थमाला संरक्षक सदस्य

१. श्रीमती झनकारीबाई खेमराज बाफना, खैरागढ़
२. श्री कंवरलाल मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़
३. श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिड़िया, खैरागढ़
४. श्रीमती ढ़ेलाबाई तेजमाल नाहटा, खैरागढ़
५. श्री सुरेशभाई मेहता, बम्बई व श्री दिनेशभाई मेहता, मोरबी
६. श्री महेशभाई मेहता, बम्बई व श्री प्रकाशभाई मेहता, नेपाल
७. श्री रमेशभाई, नेपाल व श्री राजेशभाई मेहता, मोरबी
८. श्रीमती वसंतबेन जेवंतलाल मेहता, मोरबी
९. श्री शैलेषभाई जे. मेहता, नेपाल
१०. ब्र. ताराबेन मैनाबेन, सोनगढ़
११. स्व. अमराबाई स्मरणार्थ
हस्ते - श्री घेवरचंद डाकलिया, राजनाँदगाँव
१२. श्रीमती चन्द्रकला गौतमचंद बोथरा, भिलाई

१३. श्रीमती गुलाबबेन शांतिलाल जैन, भिलाई
१४. श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचंद जैन, खैरागढ़
१५. श्री कंचनबाई दुलीचंद जैन, खैरागढ़
१६. श्री प्रफुल्लचन्द संयजकुमार जैन, भिलाई
१७. स्व. लुनकरण कोचर स्मरणार्थ, हस्ते - झीपुबाई कटंगी
१८. श्री जेठाबाई हंसराजजी, सिकंदराबाद
१९. श्री शांतिनाथ सोनाज, अकलूज
२०. स्व. श्री उजमबेन चुन्नीलाल सेठ स्मरणार्थ,
हस्ते - श्रीमती सुशीलाबेन, बम्बई
२१. श्री लवजी बाजपाल गाला, बम्बई
२२. स्व. कंकुबेन रिखबदास जैन स्मरणार्थ हस्ते - श्री शांतिभाई बम्बई
२३. एक मुमुक्षुभाई, सोनगढ़, हस्ते - सुकुमाल जैन, दिल्ली
२४. श्रीमती शांताबेन शांतिभाई झवेरी, बम्बई
२५. श्रीमती मूलीबेन समरथलाल जैन, सौनगढ़
२६. श्रीमती सुशीलाबेन उत्तमचंद गिड़िया, रायपुर
२७. स्व. रामलाल पारख स्मरणार्थ,
हस्ते - नथमल कानमल पारख, राजनाँदगाँव
२८. श्री बिशम्भरदास महावीरप्रसाद जैन सर्राफ, दिल्ली
२९. श्रीमती हेमकुंवरबेन कानजीभाई, मोरबी
३०. सौ. रमाबेन नटवरलाल शाह, जलगाँव
३१. सौ. सविताबेन रसिकभाई शाह, सोनगढ़
३२. श्री फूलचंद विमलचंद झांझरी, उज्जैन,
हस्ते - ब्र. पुष्पाबेन, सोनगढ़
३३. श्रीमती पतासीबाई तिलोकचन्द कोठारी, जालबांधा
३४. श्री छोटालाल केशवजी भायाणी, बम्बई
३५. श्रीमती जशवंतीबेन बी. भायाणी, घाटकोपर
३६. स्व. भैरोदानजी संतोषचन्दजी कोचर, कटंगी
३७. श्री चिमनलाल ताराचंद कामदार,
हस्ते - हितेश केयूर, जेतपुर
३८. श्री तखतराजजी कांतिलालजी, कलकत्ता
३९. श्रीमती ढेलाबाई चेरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़

साहित्य प्रकाशन फण्ड : सहयोग राशि

१.	रमिलाबेन इन्द्रवदन शाह, बम्बई	२५१/-
२.	जटाकर माणेकचंद कामदार, जेतपुर	२५१/-
३.	स्व. बाबुभाई जेचंद मेहता, हस्ते - जयाबेन, जेतपुर	२५१/-
४.	स्व. शिवलाल लालचंदभाई शेठ, जेतपुर	२५१/-
५.	स्व. कान्तीलाल लालचंद शेठ, जेतपुर	२५१/-
६.	स्व. मगनलाल केशवलाल चोवटीया, जेतपुर	२५१/-
७.	महेन्द्र कुमार भुपतलाल कामदार, जेतपुर	२५१/-
८.	जे सुखलाल अविचलभाई देसाई, जेतपुर	२५१/-
९.	उदय हर्षतराय, जेतपुर	२५१/-
१०.	सुरजबेन, सोनगढ़	२५१/-
११.	तनसुखलाल ताराबेन पारख, भिलाई	२५१/-
१२.	ब्र. ताराबेन मैनाबेन, सोनगढ़	२५१/-
१३.	श्री ढेलाबाई जैन, हस्ते - कंवरलाल मोतीलाल जैन, खैरागढ़	२५१/-
१४.	झनकारीबाई खेमराज बाफना चैरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़	२५१/-
१५.	स्नेहिल सतीष अन्नदाते, देवलाली	२५१/-
१६.	वासंतीबेन छाबडा, बम्बई	२०१/-
१७.	स्व. ताराचंद पारख स्मरणार्थ, हस्ते - पारस बाई, बुन्देली	२०१-
१८.	विमलचंदजी शरदकुमार, डोंगरगढ़	२०१/-
१९.	स्व. राजेन्द्र भूरा स्मरणार्थ, हस्ते - प्रेमचंद भूरा, भिलाई	२०१/-
२०.	श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचंद जैन, हस्ते - अभयकुमार, खैरागढ़	२०१/-
२१.	श्रीमती कंचनदेवी दुलीचंद जैन, हस्ते - कमलेश जैन, खैरागढ़	२०१/-
२२.	घेवरचंदजी राजेन्द्रकुमार डाकलिया, राजनाँदगाँव	२०१/-

२३.	दुलीचंदजी निर्मलकुमारजी बरडिया, राजनाँदगाँव	२०१/-
२४.	गुप्तदान, हस्ते - मनोज जैन, खैरागढ़	२०१/-
२५.	श्रीमती अनितादेवी कस्तूरचंदजी, डोंगरगढ़	२०१/-
२६.	श्रीमती चमेलीबेन नरेन्द्रकुमार, बम्बई	१५१/-
२७.	श्रीमती वासंती भरतकुमार जैन, घाटकोपर	१५१/-
२८.	अमृतबेन शाह, बम्बई	१११/-
२९.	ध्वनिबेन शाह, बम्बई	१११/-
३०.	स्तुतिबेन शाह, बम्बई	१११/-
३१.	श्रीमती फागुनी भुपेन्द्रकुमार शाह, बम्बई	१११/-
३२.	श्री देवीलाल तेजबाई मेहता, उदयपुर	१०१/-
३३.	मीनाक्षीबेन बावीसा, जलगाँव	१०१/-
३४.	उषाबेन केशवलाल जैन, वडीया	१०१/-
३५.	इन्दिराबेन दिनकरभाई शाह, धोराजी	१०१/-
३६.	श्रीमती विजयाबेन विजयकुमार जैन, बिलासपुर	१०१/-
३७.	श्रीमती साधना संजयकुमार, भिलाई	१०१/-
३८.	श्री जवाहरभाई एन. दोशी, लोनार	१०१/-
३९.	मधुरीबेन शांतीलाल, सोनगढ़	१०१/-
४०.	हिम्मतलाल शारदाबेन पारख, भिलाई	१०१/-
४१.	श्री शांतीलालजी गुलाबबेन कान्नेला, भिलाई	१०१/-
४२.	स्व. राजीव नायक, दुर्ग	१०१/-
४३.	जयंतिलाल डी. दोशी, दादर, बम्बई	१०१/-
४४.	डा. रजनीकांत संघवी, घाटकोपर	१०१/-
४५.	पलक अगेश शाह, घाटकोपर	१०१/-
४६.	श्री धनराजजी जैन, खैरागढ़	१०१/-
४७.	श्रीमती सपना डा. किशोर जैन, खैरागढ़	१ १/-

श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला
संक्षिप्त परिचय





श्री खेमराज गिड़िया **श्रीमती घुड़ीबाई गिड़िया**

जिनके विशेष आशीर्वाद व सहयोग से ग्रन्थमाला की स्थापना हुई तथा जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष धार्मिक साहित्य प्रकाशित करने का कार्यक्रम सुचारु रूप से चल रहा है, उस ग्रन्थमाला के संस्थापक श्री खेमराज गिड़िया का संक्षिप्त परिचय देना हम अपना कर्तव्य समझते है :-

जन्म : सन् १९१९ चांदरख (जोधपुर)

पिता – श्री हंसराज, **माता** – श्रीमती मेहंदीबाई

शिक्षा / व्यवसाय : मात्र प्रायमरी शिक्षा प्राप्त कर मात्र १२ वर्ष की उम्र से ही व्यवसाय में लग गए।

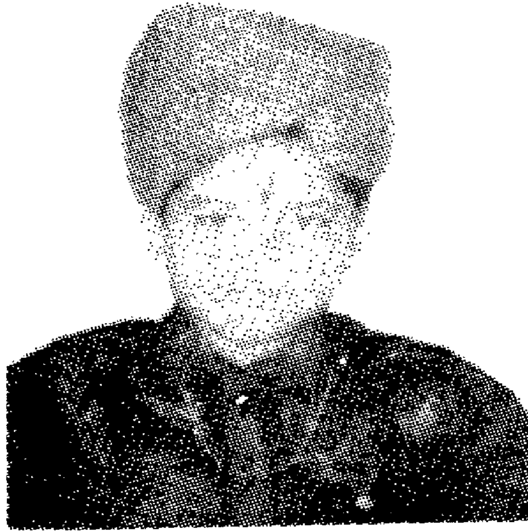
सत्-समागम : सन् १९५० में पूज्य श्री कानजी स्वामी का परिचय सोनगढ़ में हुआ।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा : मात्र ३४ वर्ष की उम्र में सन् १९५३ में पूज्य स्वामीजी से सोनगढ़ में ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली।

परिवार : आपके ४ पुत्र एवं २ पुत्रियाँ हैं। पुत्र - दुलीचन्द, पन्नालाल, मोतीलाल एव प्रेमचंद। तथा पुत्रियाँ - ब्र. ताराबेन एवं मैनाबेन। दोनों पुत्रियों ने मात्र १८ वर्ष एवं २० वर्ष की उम्र में ही आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेकर सोनगढ़ को ही अपना स्थायी निवास बना लिया।

विशेष : भावनगर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में भगवान के माता-पिता बने। सन् १९५९ में खैरागढ़ जिन मंदिर निर्माण कराया एवं पूज्य गुरुदेवश्री के शुभ हस्ते प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग दिया। सन् १९८८ में २५ दिवसीय ७० यात्रियों सहित दक्षिण तीर्थयात्रा संघ निकाला एवं अनेक सामाजिक कार्यों के अलावा अब व्यवसाय से निवृत्त होकर अधिकांश समय सोनगढ़ में रहकर आत्म-साधना में बिताते हैं।

विनम्र आदरांजली



स्व. तन्मय (पुखराज) गिड़िया

जन्म : १-१२-१९७८ (खैरागढ़, म.प्र.)

स्वर्गवास : २-२-१९९३ (दुर्ग पंचकल्याणक)

अल्प वय में अनेक उत्तम संस्कारों से सुरभित, भारत के सभी तीर्थों की यात्रा, पर्वों में यम-नियम में कट्टरता, रात्रि भोजन त्याग, टी.वी. देखना त्याग, देवदर्शन, स्वाध्याय, पूजन आदि छह आवश्यक में हमेशा लीन, सहनशीलता, निर्लोभता, वैरागी, सत्यवादी, दानशीलता से शोभायमान तेरा जीवन धन्य है।

अल्पकाल में तेरा आत्मा असार-संसार से मुक्त होगा (वह स्वयं कहता था कि मेरे अधिक से अधिक ३ भव बाकी हैं।) चिन्मय तत्त्व में सदा के लिए तन्मय हो जावे - ऐसी भावना के साथ यह वियोग का वैराग्यमय प्रसंग हमें भी संसार से विरक्त करके मोक्षपथ की प्रेरणा देता रहे - ऐसी भावना है।

हम हैं

दादा - श्री कंवरलालजी जैन
दादी - स्व. मथुराबाई
पिता - श्री मोतीलाल जैन
माता - श्रीमती शोभादेवी जैन
बुआ - श्रीमती ढेलाबाई
बहन - कु. क्षमा जैन
जीजा - श्री शुद्धात्मप्रकाश जैन
जीजी - सौ. श्रद्धा जैन

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

॥ श्री जम्बूस्वामी चरित्र ॥

चिदानंद चैतन्यमय, शुद्धातम को ध्याय।
जम्बूस्वामी केवली, अन्तिम को सिरनाय॥
रचूँ कथानक जो कह्यो, गुरु गौतम जिनराय।
जम्बूस्वामी चरित को, सुनो भव्य मन लाय॥

जिनका प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी किरणों का मण्डल त्रिभुवनरूप भवन में फैला हुआ है, जो नौ केवल-लब्धि आदि अनंत गुणों के साथ आरंभ हुए दिव्यदेह के धारी हैं, जो अजर हैं, अमर हैं, अयोनि-सम्भव हैं, अदग्ध हैं, अछेद्य हैं, अव्यक्त हैं, निरंजन हैं, निरामय हैं, अनवद्य हैं, जो तोष गुण (राग) से रहित होकर भी सेवकजनों के लिये कल्पवृक्ष के समान हैं, जिनने साध्य की सिद्धि कर ली है, संसार-सागर से जो उत्तीर्ण हुए हैं, जिनने जीतने योग्य सभी को जीत लिया होने से जितजेय हैं, जिनके हाथ-पैर आदि अर्थात् पूर्णत: सुखामृत में जो डूबे हुए हैं, जिनके वचन-किरणों से मोक्षमार्ग मुखरित हो रहा है, जो अठारह हजार शील के गुणों के स्वामी होने से शैलेशीनाथ हैं, जो अक्षय गुणनिधि हैं - ऐसे श्री वीर प्रभु को एवं समस्त पंच परमेष्ठी भगवंतों को नमस्कार करके पूर्वाचार्यों के अनुसार इस हुण्डावसर्पिणी काल के अंतिम अनुबद्ध केवली श्री जम्बूस्वामी के पावन चरित्र को मैं कहूँगा।

जिनका देह कामदेव के रूप से सुशोभित है, जिनका वक्ष:स्थल पद्मा अर्थात् लक्ष्मी से युक्त है, प्रफुल्लित कमल के समान जिनका मुख है, विशाल एवं गंभीर नेत्रों से जो शोभित हैं, असाधारण

प्रज्ञा के जो धनी हैं, सम्पूर्ण विद्याओं के जो निलय हैं, वज्रमयी अंग के जो धारक हैं, पुण्य की जो मूर्ति हैं, पवित्रता जिनका जीवन है, शांति जिनकी राह है, अहिंसा के जो पुजारी हैं, अनेकांतमयी वाणी जिनका वचन-श्रृंगार है, चक्रवर्ती के समान आज्ञा की प्रभुता जिनको वर्तती है, अनेक गुणों से जो अलंकृत हैं, चार-चार देवांगनाओं जैसी सुन्दर गुणवती कामनियों के द्वारा वाचनिक एवं शारीरिक कामोत्पादक चेष्टाओं की बौछारें पड़ने पर भी जो रंचमात्र भी चलायमान नहीं हुए - **"धन्य-धन्य वे सूर साहसी, मन सुमेर जिनका नहीं काँपे"**, निज शुद्धात्मा जिनका ध्येय है और मोक्ष जिनका साध्य है, - ऐसे श्री जम्बूस्वामी का चरित्र कहने में यद्यपि महा मुनीन्द्र ही समर्थ हैं तो भी आचार्य परम्परा के उपदेश से आये हुए इस महान चरित्र को मेरे जैसे क्षुद्र प्राणी भी रच रहे हैं, इसका मूल कारण है कि मेरा मन बारंबार इसके लिये प्रेरित कर रहा है। यह साहस तो ऐसा है, जैसे मदोन्मत्त हाथियों के द्वारा संचलित मार्ग में भय के भंडार हिरण भी चले जाते हैं तथा जिनके आगे अजेय योद्धा चल रहे हों, उनके साथ साधारण योद्धा भी प्रवेश कर जाते हैं। इसीप्रकार सूर्य को दीपक दिखाने जैसा मेरा यह साहस है।

विशिष्ट पुरुषों के चिंतवन से मन तत्काल वैराग्य की प्रेरणा पाता है और सातिशय पुण्य का संचय करता है। आचार्यों ने कहा भी है कि मन की शोभा वैरागी रस से है, बुद्धि की शोभा हितार्थ के अवधारण में है, मस्तक की शोभा नव देवों को नमस्कार करने में है, नेत्रों की शोभा शांत-प्रशांत वीतरागरस झरती मुखमुद्रा के निहारने में है, कान की शोभा वीतरागमयी गुणों के श्रवण करने में है, घ्राण की शोभा आत्मिक सुख-शांतिदायक स्वास-प्रस्वास के लेने में है, जिह्वा की पवित्रता आत्मा-परमात्मा के गुणस्तवन में है, हृदय की शोभा अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगो में हित का मार्ग चुनने में है, भुजाओं की शोभा शांतरस गर्भित वीररस में है, हस्तयुगल की शोभा पात्रदान देने में, जगत के जीवों को अभयदान देने में और वीतरागता के पोषक वचनों को लिखने आदि में है, उदर की गंभीरता आत्महितकारक गुणों को संगृहीत करने में है, पीठ की शोभा प्रतिकूलता के समूह में भी धर्म के मार्ग में सुमेरुसमान दृढ़ - अचल रहने में है।

जीवों की यह जड़मय देह रोगों से ग्रसित है, समस्त अशुचिता की खान है, कागज की झोपड़ी के समान क्षण में उड़ जानेवाली होने से अनित्य है और प्रतिसमय मृत्यु के सन्मुख अग्रसर है, परन्तु महापुरुषों का ज्ञानानंदमयी विग्रह (देह) होने से शाश्वत एवं अक्षय है, समस्त पवित्रताओं से निर्मित है, चैतन्यमयी गुणों का निकेतन है, उसकी उपासना जो भव्योत्तम करते हैं, वे अल्पकाल में गुणनिधान अशरीरी सिद्धत्वपने को प्राप्त होते हैं।

पंचम परम पारिणामिक भाव को भजकर, पंचपरमेष्ठी का स्मरण करके, पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके, पंच परावर्तन का अभाव करके, पंचमगति को प्राप्त श्री जम्बूस्वामी का यह उत्तम चरित्र है। इस उत्तम कथा के सुनने से या पढ़ने से मनुष्यों को जो सुख उत्पन्न होता है, वही बुद्धिमान मनुष्यों का स्वार्थ - आत्मप्रयोजन है तथा यही सातिशय पुण्य उपार्जन का कारण है। श्री वर्धमान जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि में आया हुआ, श्री इन्द्रभूति गौतम गणधर के द्वारा प्रतिपादित किया गया तथा सुधर्माचार्य आदि आचार्य परम्परा से चला आया यह चरित्र है। इसे ही आगम के आधार से पांडे श्री राजमलजी ने संस्कृत पद्य में रचा, उसका हिन्दी अनुवाद ब्र. शीतलप्रसादजी कृत है, उसी के आधार से प्रस्तुत चरित्र रचा जा रहा है।

[अपने कथानायक श्री जम्बूस्वामी का भूतकाल यहीं से प्रारंभ होता है। इसे पढ़ते ही हम यह महसूस करेंगे कि धर्मात्माओं के साथ धर्म की शीतल छाया में पनपने वाला पुण्य भी अपनी छटा बिखेरता ही रहता है, क्योंकि पुण्य और पवित्रता का अपूर्व संगम स्थान धर्मात्मा ही हुआ करते हैं। जिस प्रकार युद्धक्षेत्र में लक्ष्मण को शक्ति लग जाने से वे निस्चेत हो गये थे, उस समय विशल्या के प्रवेश होते ही मूर्छा आदि संकटों ने अस्ताचल की राह ग्रहण कर ली थी। उसी प्रकार भावी धर्मात्माओं के अवतरित होने के पहले ही पाप एवं दु:ख-दारिद्र्य भी अस्ताचल की ओर गमन करने लग जाते हैं। चलिये, हम उस नगरी एवं नगरवासियों के पुण्य की छटा का अवलोकन करें।]

भरतक्षेत्र का मगधदेश

जिस भरतक्षेत्र का हम अवलोकन करने जा रहे हैं, उसमें एक मगध नाम का प्रसिद्ध देश है। उस देश की प्रजा भोग-संपदाओं से सदा प्रसन्न हो नित्य उत्सव किया करती रहती है। वहाँ मेघों की सदा प्रसन्नता रहती है अर्थात् योग्य समय पर यथायोग्य वर्षा हुआ करती है। न अतिवृष्टि होती है और न अनावृष्टि तथा अनीति के प्रचार से भी वह देश शून्य है। राजाओं द्वारा प्रजा भी कर से मुक्त होने के कारण बाधारहित है। वहाँ सदा सुकाल वर्तता है। वहाँ के खेत एवं वृक्ष सदा धान्य एवं फलों को प्रदान करते रहते हैं।

जैसे - गुणवान ज्ञानीजन भव्यों के हृदय को आनंददायिनी वीतरागता की सौरभ सदा देते रहते हैं, वैसे ही मानो वहाँ के वृक्ष फलों से लदे हुए नम्रीभूत हो जगतजनों की क्षुधा शमन करने के लिए प्रेरणा करते रहते हैं, तथा पुष्प भी मंद-मंद सुगंध महकाते रहते हैं, पथिकगण भी मनमोहक वृक्षों की शीतल छाया का आनंद लाभ प्राप्त करते हैं। वहाँ के कूप और सरोवर जल से भरे हुए होने से मनुष्यों के आताप को हरते रहते हैं। निर्मल एवं शीतल जल से भरपूर वापिकाएँ मनुष्यों को उनकी तृषा बुझाने के लिये आह्वान करती हैं तथा उनके तटों पर स्थित वृक्ष अपनी छाया से सूर्यकृत आताप को हरते हैं।

उस देश की नदियाँ अपनी कलरव ध्वनि से युक्त जलराशि से परिपूर्ण अपनी टेढ़ी-मेढ़ी गति से दूर तक बह रहीं हैं, जिससे मनुष्य एवं पशु-पक्षी अपनी प्यास की तृप्ति का लाभ उठाते हैं। झीलों के तटों पर हंस कमल की दंडी के साथ कल्लोल कर रहे हैं। वनों में बड़े-बड़े मल्ल हाथी विचर रहे हैं। वहाँ बड़े-बड़े स्कंधधारी दृढ़ वृषभ, जिनके सींगों में कर्दम लगा हुआ है, वे थल-कमलों को देखकर पृथ्वी को खोदते रहते हैं। उस देश में स्वर्गपुरी समान नगर हैं, कुरुक्षेत्र समान चौड़ी सड़कें हैं, स्वर्ग-विमान समान, सुन्दर घर हैं, देवों समान प्रजा सुखपूर्वक वास करती हुई शोभायमान हो रही है।

उस देश में कहीं भी आज्ञा-भंग एवं आतंक-उपद्रव का लेश भी नहीं है। हाँ, यदि कहीं भंग दीखने में आता है तो जल तरंगों में ही दीखता है। प्रजा मदशून्य है, यदि कहीं मद है तो हाथियों में है। प्रजा भवभीरु, सरल और निश्छल होने से दंड कहीं नजर ही नहीं आता। हाँ! यदि दंड कहीं दृष्टिगत होता है तो राजा के छत्र में। सरोवरों में तो जल का समूह है, लेकिन कोई नगर जलमग्न नहीं होता। गायें आदि भी योग्य समय पर संतान जन्म कर मनुष्यों को दूध देकर तृप्त करती हैं। मगधदेश की नारियाँ स्वभाव से सरल एवं सुन्दर हैं और पुरुष भी स्वभाव से चतुर हैं। देव-शास्त्र-गुरु की पूजा आदि तथा पात्रदान आदि में अति प्रीतिवंत हैं। ब्रह्मचर्य पालने में, व्रत-उपवास आदि करने में शक्तिशाली एवं रुचिवंत हैं। इत्यादि अनेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त हैं। इससे यह विदित होता है कि श्रावकों में श्रावकोचित षट्कर्म एवं धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य अनादि से चला आ रहा है।

धर्मनगरी राजगृही

इसी मगध देश के एक भाग में राजगृही नगरी शोभायमान है। जहाँ के प्रासादों पर तपाये हुए सुवर्ण के समान कलश चमकते हैं और राजसुभट इन्द्रों के समान शोभते हैं। नगरवासियों को कलशों की चमक में ऐसी भ्रांति हो जाया करती है कि मानो आकाश में चन्द्रमा चमक रहे हों। वहाँ शिखरबंदी गगनचुम्बी जिनालय एवं उन पर लहराती हुई पताकायें मानो जगतजन को धर्म-उपासना के लिये आह्वाहन कर रही हैं। वहाँ के महल और उनकी खिड़कियों एवं झरोखों में से बाहर की छटा को निरखने वाली महिलायें ऐसी शोभित हो रही हैं, जैसे सरोवर कमलों से शोभता है। जिसप्रकार जिनेन्द्र भगवान के तेज के सामने करोड़ों सूर्य भी शरमा जाते हैं, उसीप्रकार, स्वर्गलोक की देवियाँ भी राजगृही की नारियों की सुन्दरता के सामने शरमा जातीं है। इत्यादि अनेक उपमायुक्त वह नगर है।

धर्मपरायण महाराज श्रेणिक

वर्तमान तीर्थनायक श्री देवाधिदेव वीर प्रभु के चरण-कमलों से पवित्र यह राजगृही नगरी हैं, जिसमें भावी तीर्थंकर श्री श्रेणिक महाराज अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं धार्मिक भावनाओं से युक्त राज्य करते हैं। जिनके चरणों में अनेक भूपाल नतमस्तक होते हैं तथा जिनका पौद्गलिक देह अनेक शुभ लक्षणों से युक्त है, जिसका वर्णन करना कठिन होने पर भी सामुद्रिक शास्त्रज्ञान के माध्यम से कुछ लक्षण कहे जाते हैं। श्रेणिक राजा रूप, लावण्य एवं सौन्दर्य सम्पन्न हैं। उनका मुख कमल-समान है और वाणी ऐसी मधुर एवं सारगर्भित है मानो सरस्वती ही हो, भ्रमर समान नेत्र जिनमुद्रा से अलंकृत हैं अर्थात् उनके नेत्र जिनदेव को ही मुख्यरूप से अपना विषय बनाते हैं। जो स्वयं गुरु नहीं, परन्तु गुरु समान जगतजनों को सच्चे शास्त्रों के अवलोकन का पाठ सिखाते हैं। जैसे ओस की बूँद कमलपत्र के संपर्क से मोती का रूप धारण कर लेती है, वैसे ही राजा के कंठहार के मोती चन्द्रमा की चमक से भी अधिक शोभा को धारण कर रहे हैं। उससे ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो राजा का चौड़ा एवं विशाल वक्षस्थल चंदन से सुरभित सुमेरू पर्वत के तट के समान है तथा उस पर चंद्रमा की चाँदनी ही छायी हुई है।

मेरू-सम मुकुट से शोभायमान जिनका मस्तक है, नीलपर्वत के समान जिनके केश हैं तथा नाभि ने भी नदी के आवर्त समान जहाँ गंभीरता धारण की है, कमल मंडल स्वर्णमय कटिबंधों से वेष्ठित हैं और दोनों जंघाएँ स्थिर गोल एवं सुगंधित हैं, उनके पैर रक्तामरयुक्त कोमल हैं, जो जलकमल की शोभा को धारण किये हुए हैं। राज्यसंपदा उनके सहवास से गौरवान्वित है और रूपसंपदा चंद्रमूर्ति समान आनंददायिनी है, उनका शास्त्रज्ञान भी शाश्वत अतीन्द्रिय आनंद प्रदाता है, क्योंकि बुद्धि की प्रवीणता आगम ज्ञान से ही शोभा को पाती है। जो आगमरूपी वाचक से वाच्य को ग्रहण करे वही शब्द, अर्थ एवं पदों के मर्म का वेत्ता होता है, तथा विनयवान एवं जितेन्द्रियता भी राजा में अपना स्थान जमाये हुए है। महाराज विद्या एवं कीर्ति के अनुरागी तो हैं ही, परंतु लौकिक वादित्र-रसिक भी हैं। वे लक्ष्मी समृद्ध तो हैं ही तथा विद्वानों द्वारा मान्य अर्थात् विद्वान भी उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं।

श्रेणिक नृप प्रतापशाली होने से अग्निसम मानकषाय से दग्ध अभिमानी शत्रु भी उनके सामने आते ही हिम समान ठंड़े हो जाते हैं और प्रवाहशाली होने से बड़े-बड़े नृप भी कमल की सौरभ को चूसने वाले भौंरों के समान इनके निकट आ नतमस्तक हो न्याय-नीति एवं धर्म का रसपान करते हैं।

[आइये! अब हम इसी नृप के मिथ्याबुद्धि युक्त भूतकाल का भी संक्षिप्त अवलोकन कर लें। आगम एवं लोक में सर्वत्र यह प्रसिद्ध है कि "अज्ञान समान कोई और अनर्थकारी नहीं"। जिस अभिप्राय अर्थात् मान्यता की विपरीतता ने निगोद तक की सैर अनंतों बार कराई है, उसी का एक नमूना प्रत्यक्ष भी देख लें। जिसमें अपने बौद्ध गुरुओं की चेलना द्वारा की गई परीक्षा को अपमान समझकर श्रेणिक ने अपने क्रोध का उपचार श्री वीतरागी मुनिराज पर उपसर्ग करके किया था।]

वह प्रसंग इसप्रकार था कि अनेक नगर, पर्वत, वनादि में विहार करते हुए श्री यशोधर मुनिराज राजगृही नगरी के पर्वत पर पधारे। वे वहाँ ध्यानमग्न थे कि उसी समय राजा श्रेणिक भी वन की छटा देखने के लिए घूमते-घूमते वहाँ पहुँचे। उन्हें देखकर श्रेणिक को अपने गुरुओं के अपमान का बदला लेने का भाव हो गया। राजा ने वहीं कहीं मरे हुए सर्प को मुनिराज के ऊपर डाल दिया, जिससे अगणित चींटी आदि हो जाने से उनके काटने की पीड़ा को वीतरागी संत ने साम्यभाव से सहनकर उस पर जय प्राप्त की।

उससमय श्रेणिक ने तीव्र मिथ्यात्व एवं अज्ञानता के कारण सातवें नरक की आयु का बंध किया था। उसी बुद्धिमान श्रेणिक ने बाद में काललब्धि और सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा विशुद्ध भाव को धारण कर श्री वर्धमान प्रभु के समवशरण में सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा विशुद्ध भाव को धारण कर क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया। वही राजा श्रेणिक का जीव शीघ्र ही कर्मवन को दग्ध कर भावी उत्सर्पिणी काल में श्री महापद्म नाम के प्रथम तीर्थंकर होंगे।

इन्हीं राजा श्रेणिक की एक चेलना नामक रानी भी है, जो जैनधर्म परायण, पतिव्रता, व्रत, शील एवं सम्यग्दर्शन आदि गुणों से सम्पन्न भी है। यद्यपि श्रेणिक राजा के अंत:पुर में अनेक रानियाँ

हैं, परन्तु रानी चेलना सत्यधर्म की उपासक होने से राजा के प्रेम की सर्वश्रेष्ठ पात्र है। वह रूप, लावण्य, यौवन आदि से युक्त होने से कल्पवृक्ष समान शोभती है। सदा जिनधर्म की आराधना से स्वयं तो आनंदामृत का रसपान करती ही है, परन्तु अपने पति बौद्धधर्मी श्रेणिक राजा को भी जिसने जिन-धर्म के सन्मुख किया है।

विपुलाचल पर वीर प्रभो!

भव्य जीवों के संदेह निवारक श्री १०८ पूज्य सन्मति (महावीर) मुनिराज अनेक वन-उपवन एवं पर्वतों पर विहार करते हुए राजगृही नगर के विपुलाचल पर्वत पर आ विराजमान हुए। प्रचुर आत्मिक स्वसंवेदन की उग्रता में वैशाख शुक्ला दशमी के शुभ दिन उन्हें केवलज्ञान लक्ष्मी उदित हुई, जिसके शुभ चिह्न स्वर्गपुरी, मध्यलोक आदि में दूर-दूर तक उदित हो गये अर्थात् स्वर्गवासी देवों के विमानों में क्षुभित समुद्र के शब्दों के समान घंटनाद होने लगा; ज्योतिषी देवों के विमानों में सिंहनाद गुंजायमान होने लगा, जिससे ऐरावत हाथी का मद भी गलित हो गया; व्यंतर देवों के निवास स्थानों में मेघों की गर्जना को भी दबा देनेवाले दुंदुभि बाजों के शब्द होने लगे और धरणेन्द्रों व भवनवासी देवों के भवनों में मधुर ध्वनिमय शंखों की महान ध्वनियाँ होने लगीं।

चतुर्निकाय देवों ने जब ये ध्वनियाँ सुनी, तब उनने अपने अवधिज्ञान से यह जान लिया कि पूज्य श्री सन्मति मुनिराज को केवलज्ञान सूर्य उदित हुआ है, इसीकारण हम लोगों के आसन कंपायमान हो रहे हैं। तभी देवों ने अपने-अपने सिंहासन से उठकर सात कदम आगे जाकर केवलज्ञानी वीर प्रभु को नमस्कार किया। वे जब वातावरण की ओर नजरें दौड़ाते हैं तो उन्हें चारों ओर की छटा कोई अद्भुत एवं निराली ही दिखाई देती है।

मनवांछित सिद्धि के दाता कल्पवृक्ष सम वीरप्रभु को लख कल्पवृक्ष भी दोलायमान होने लगे। उनसे निर्गत पुष्पों की वर्षा भी केवलज्ञानी प्रभु को पूजने लगी। मेघराज मानो स्वच्छ गगन से पराजित हो कहीं छिप गये, जिससे सर्व दिशायें अपनी निर्मलता को बिखेरने लगीं। पृथ्वीराज भी कंटक एवं धूल रहित हो गये। वायुमंडल भी

मंद, सुगंध, शीतल एवं मनभावनी बहारें चलाने लगा। केवलज्ञान रूपी पूर्ण चन्द्रमा को पाकर तीन जगत रूपी समुद्र भी आनंद तरंगों से पुलकित हो गया।

तभी केवली भगवान के दर्शन-पूजन के लिए सौधर्म इन्द्र ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हो एवं अन्य सभी इन्द्र और देवगण अपनी-अपनी योग्य सवारियों पर आरूढ़ हो आकाश मार्ग से गमन करते हुए शीघ्र ही प्रभु के निकट पहुँचे, सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने शीघ्र भव्य एवं जगत को आश्चर्यचकित कर देने वाले एवं इस भूतल से पाँच हजार धनुष ऊँचे समवशरण की रचना की। इन्द्र आदि सभी प्रभु के दर्शन करते हुए प्रभु की जय-जयकार करने लगे, वीर प्रभो की जय हो! महावीर प्रभो की जय हो! इसके बाद सभी अपने-अपने योग्य कोठों में बैठ गये।

सौधर्म इन्द्र का मन-चकोर प्रभु के आन्तरिक वैभव - अनंत केवलज्ञान, अनंत केवलदर्शन, अनंत अतीन्द्रिय सुख, अनंत वीर्य, अनंत प्रभुता, अनंत विभुता, अनंत आनंद, अनंत स्वच्छता, अनंत प्रकाश, अनंत ईश्वरता आदि को अनुमान ज्ञान से तथा बाह्य में अद्‌भुत पुण्य के भंडार शरीर को देख-देखकर मन ही मन आनंदित हो रहा है। अहो! यह कैसी अद्‌भुत रचना - मानो इसे दैवी शिल्पियों ने बड़ी ही भक्ति से अलौकिक रचा। जब प्रभु ही अलौकिक हैं, तब उनका समवशरण भी अलौकिक ही होना चाहिए; जिसमें अंतरिक्ष में विराजमान प्रभो! नभमंडल में चन्द्र के समान शोभ रहे हैं, उनका चैतन्यबिम्ब तो शरीर से भिन्न निराला ही है, परन्तु उनका देह भी समवशरण विभूति से अत्यन्त भिन्न निराला का निराला ही रहता है।

ऐरावत हाथी

[सौधर्म इन्द्र जिस हाथी पर आरूढ़ होकर आते हैं, उसकी क्या विशेषता है, उसका भी थोड़ा-सा ज्ञान कर लें]

सौधर्म इन्द्र जिस हाथी पर चढ़कर आते हैं, वह देवलोक में ही रहनेवाले अभियोग जाति का देव है, जो सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से अपनी विक्रिया द्वारा ही अति मनोहर हाथी का रूप धारण करके

आता है। उसके बत्तीस मुख होते हैं, एक-एक मुख में आठ-आठ दाँत होते हैं, एक-एक दाँत पर एक-एक कमलिनी के आश्रय बत्तीस-बत्तीस कमल के फूल होते है। एक-एक कमल के बत्तीस-बत्तीस पत्ते होते हैं, उन प्रत्येक पत्तों पर बत्तीस-बत्तीस देवांगनाएँ नृत्य करती हैं, यह दृश्य अद्भुत होता है - ऐसा ऐरावत हाथी होता है, जिसपर आरूढ़ सौधर्म इन्द्र होता है, उसके आगे किन्नर देवियाँ मनोहर कंठ से श्री जिनेन्द्रदेव का जयगान करती हैं, बत्तीस व्यंतरेन्द्र चमर ढोरते रहते हैं, सिर पर मनोहर छत्र है, मनोहर शोभा धारण करनेवाली अप्सरायें साथ में चल रही है।

देव-देवियों द्वारा आकाश नील-रक्त आदि रंगों से रंग-बिरंगा रूप धारण किये हुए है। देवों का समूह त्रिलोकीनाथ की पूजन-सामग्री लिये हुए प्रभुभक्ति की भावना संजोये हुए आकाशमार्ग से गमन करता हुआ आ रहा था, वह ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो देवों के समूह रूपी समुद्र में अनेक तरंगें उठ रही हैं।

जिनेन्द्र का समवशरण

अर्हंत भगवान के उपदेश देने की सभा का नाम समवशरण है, जहाँ बैठकर तिर्यंच, मनुष्य और देव - पुरुष व स्त्रियाँ सभी उनकी अमृतवाणी श्रवण कर अपने कर्ण तो तृप्त करते ही हैं, परंतु निज-स्वरूप की आराधना करके मोक्ष की तैयारी भी करते हैं। इसकी रचना विशेष प्रकार से देव लोग करते हैं। इसकी प्रथम सात भूमियों में बड़ी आकर्षक रचनाएँ, नाट्यशालाएँ, पुष्प वाटिकाएँ, वापिकायें, चैत्यवृक्ष आदि होते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्यजन अधिकतर इसी के देखने में उलझ जाते हैं। सच्चा श्रद्धालु ही अष्टभूमि में प्रवेश कर साक्षात् भगवान के दर्शनों से तथा अमृतवचनों से अपने नेत्र, कान व जीवन सफल करते हैं।

नाम की सार्थकता - इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं, इसलिए गणधरादि देवों ने इसका 'समवशरण' - ऐसा सार्थक नाम कहा है।

समवशरण में अन्य श्रुत-केवली आदि के उपदेश देने का स्थान - भवनभूमि नाम की सप्तम भूमि में स्तूपों से आगे एक

पताका लगी हुई है, उसके आगे १००० खम्भों पर खड़ा हुआ 'महोदय' नाम का मण्डप है, जिसमें मूर्तिमान श्रुतदेवता विद्यमान रहते हैं। उस श्रुतदेवता को दाहिने भाग में करके बहुश्रुत के धारक अनेक धीर-वीर मुनियों से घिरे श्रुतकेवली कल्याणकारी श्रुत का व्याख्यान करते हैं। महोदय मण्ड़प से आधे विस्तारवाले चार परिवार मंडप और हैं, जिनमें कथा कहने वाले पुरुष आक्षेपणी आदि कथाएँ कहते रहते हैं। इन मंडपों के समीप में नाना प्रकार के फुटकर स्थान भी बने रहते हैं, जिनमें बैठकर केवलज्ञान आदि महा ऋद्धिओं के धारक ऋषि इच्छुक जनों के लिए उनको इष्ट वस्तुओं के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

मिथ्यादृष्टि अभव्यजन श्रीमण्डप के भीतर नहीं जाते - समवशरण के बारह कोठों में मिथ्यादृष्टि अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते तथा अनध्यवसाय से युक्त, संदेह से संयुक्त और विविध प्रकार की विपरीतताओं से सहित जीव भी नहीं होते हैं। यही बात हरिवंशपुराण में भी कही गई है कि सप्तमभूमि में अनेक स्तूप हैं। उनमें सर्वार्थसिद्धि नाम के अनेकों स्तूप हैं। उनके आगे दैदीप्यमान शिखरों से युक्त भव्यकूट नाम के स्तूप होते हैं, जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते हैं।

समवशरण का माहात्म्य - एक-एक समवशरण में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण विविध प्रकार के जीव जिनदेव की वंदना में प्रवृत्त होते हुए स्थित रहते हैं। यद्यपि कोठों के क्षेत्र से जीवों का क्षेत्रफल असंख्यातगुणा है, तथापि जिनदेव के माहात्म्य से वे सब जीव एक-दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं, और जिनेन्द्रदेव के माहात्म्य से बालक प्रभृति जीव प्रवेश करने अथवा निकलने में अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर संख्यात योजन चले जाते हैं, इसके अतिरिक्त किसी भी जीव को कभी भी कोई प्रकार की बाधादि नहीं आती अर्थात् आतंक, रोग, शोक, मरण, उत्पत्ति, बैर, कामबाधा तथा क्षुधा, तृषा आदि नहीं होने से चारों प्रकार का दान प्राप्त होता है। वे इसप्रकार हैं - प्रभु की दिव्यदेशना से ज्ञानदान तो मिलता ही है, वहाँ किसी को रोग नहीं होता इसलिए औषधदान हो गया, क्षुधा-तृषा नहीं लगने से आहारदान हो गया और किसी भी प्रकार का भय न

होने से अभयदान हो गया। इस तरह चारों दान वहाँ प्राप्त होते हैं।

[सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर विक्रिया के द्वारा सम्पूर्ण तीर्थंकरों के समवशरण को विचित्र रूप से रचते हैं, यहाँ उसका भी थोड़ा अवलोकन कर लेना उचित है।]

समवशरण की रचना

समवशरण के स्वरूप वर्णन में ३१ अधिकार होते हैं - १. सामान्यभूमि, २. सोपान, ३. विन्यास, ४. वीथी, ५. धूलि साल (प्रथम कोट), ६. चैत्य-प्रासाद-भूमियाँ, ७. नृत्यशाला, ८. मानस्तम्भ, ९. वेदी, १०. खातिका-भूमि, ११. द्वितीय वेदी, १२. लताभूमि, १३. साल (द्वितीय कोट), १४. उपवनभूमि, १५. नृत्यशाला, १६. तृतीय वेदी, १७. ध्वज-भूमि, १८. साल (तृतीय कोट), १९. कल्पभूमि, २०. नृत्यशाला, २१. चतुर्थ वेदी, २२. भवन भूमि, २३. स्तूप, २४. साल (चतुर्थ कोट), २५. श्रीमण्डप, २६. बारह सभाओं की रचना, २७. पंचम वेदी, २८. प्रथम पीठ, २९. द्वितीय पीठ, ३०. तृतीय पीठ और ३१. गंधकुटी - ये पृथक्-पृथक् इकतीस अधिकार होते हैं।

समवशरण की [१]**सामान्यभूमि** गोल होती है। उसकी चारों दिशाओं में देव, मनुष्य और तिर्यंचों को चढ़ने के लिए आकाश में बीस-बीस हजार स्वर्णमयी [२]**सीढ़ियाँ (सोपान)** होती हैं। इसमें चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच आठ भूमियाँ और सर्वत्र प्रत्येक के अन्तर भाग में तीन पीठ होते हैं, यह उसका [३]**विन्यास** (कोटों आदि का सामान्य निर्देश) है। प्रत्येक दिशा के सोपानों से लेकर अष्टमभूमि के भीतर गंधकुटी की प्रथम पीठ तक एक-एक [४]**वीथी (सड़क)** होती है। वीथियों के दोनों पार्श्वभागों में वीथियों जितनी ही लम्बी दो वेदियाँ होती हैं। आठों भूमियों के मूल में वज्रमय कपाटों से सुशोभित और देवों, मनुष्यों एवं तिर्यंचों के संचार से युक्त बहुत से तोरणद्वार होते हैं। सर्वप्रथम [५]**धूलिसाल** नामक प्रथम कोट है। इसकी चारों दिशाओं में चार तोरणद्वार (गोपुर) हैं। प्रत्येक गोपुर (द्वार) के बाहर मंगलद्रव्य, नवनिधि व धूप पुतलियाँ स्थित हैं। प्रत्येक द्वार के अन्दर

दोनों पार्श्वभागों में एक-एक नाट्यशाला है। ज्योतिषी देव इन द्वारों की रक्षा करते हैं। धूलिसाल कोट के भीतर [६]**चैत्य-प्रासाद-भूमियाँ** हैं। जहाँ पाँच-पाँच प्रासादों के अन्तराल से एक-एक चैत्यालय स्थित है। इस भूमि के भीतर पूर्वोक्त चार वीथियों के पार्श्वभाग में [७]**नृत्यशालाएँ** हैं, जिनमें ३२ रंगभूमियाँ हैं। प्रत्येक रंगभूमि में ३२ भवनवासी कन्यायें नृत्य करती हैं।

प्रथम (चैत्य-प्रासाद) भूमि के बहुमध्य भाग में चारों वीथियों के बीचोंबीच गोल [८]**मानस्तम्भ** भूमि है। इस प्रथम चैत्य-प्रासाद-भूमि से आगे [९]**प्रथम वेदी** है, जिसका सम्पूर्ण कथन धूलिसाल कोट के समान जानना। इस वेदी से आगे दूसरी [१०]**खातिका** भूमि है, जिसमें जल से पूर्ण खातिकाएँ हैं। इससे आगे पूर्व वेदि सदृश ही [११]**द्वितीय वेदी** है। इसके आगे तीसरी [१२]**लताभूमि** है, जो अनेक क्रीड़ा-पर्वतों व वापिकाओं आदि से शोभित है।

इसके आगे [१३]**दूसरा कोट (साल)** है, जिसका वर्णन धूलिसालवत् है, परन्तु यह यक्षदेवों से रक्षित है। इसके आगे चौथी [१४]**उपवन** नाम की चौथी भूमि है, जो अनेक प्रकार के वनों, वापिकाओं चैत्य वक्षों से शोभित है। सभी वनों के आश्रित सभी वीथियों के दोनों पार्श्वभागों में दो, दो (कुल १६) [१५]**नृत्यशालाएँ** होती हैं। आदि वाली (१ से लेकर ८ तक की) आठ नाट्यशालाओं में भवनवासी देव कन्याएँ और उससे आगे (९ से लेकर १६ तक) की आठ नाट्यशालाओं में कल्पवासी देवकन्याएँ नृत्य करती हैं। इसके आगे पूर्व सदृश ही [१६]**तीसरी वेदी** है जो यक्षदेवों से रक्षित है। इसके आगे पाँचवीं [१७]**ध्वजभूमि** है, जिसकी प्रत्येक दिशा में सिंह, गज आदि दस चिह्नों से चिह्नित ध्वजाएँ हैं। प्रत्येक चिह्न वाली १०८ ध्वजाएँ हैं और प्रत्येक ध्वजा अन्य १०८ क्षुद्र ध्वजाओं से युक्त है। कुल ध्वजाएँ = (१० x १०८ x ४) + (१० x १०८ x ४ x १०८) = ४७०८८० हैं।

इसके आगे [१८]**तृतीय कोट (साल)** है, जिसका समस्त वर्णन धूलिसाल कोट के समान है। इसके आगे छठवीं [१९]**कल्पभूमि** है, जो दस प्रकार के कल्पवृक्षों से तथा अनेक वापिकाओं, प्रासादों, सिद्धार्थ वृक्षों (चैत्य वृक्षों) से शोभित है। कल्पभूमि के दोनों पार्श्वभागों

में प्रत्येक वीथी के आश्रित चार-चार (कुल १६) [२०]**नृत्यशालाएँ** हैं। यहाँ ज्योतिषी देव कन्याएँ नृत्य करती हैं। इसके आगे [२१]**चौथी वेदी** है, जो भवनवासी देवों द्वारा रक्षित हैं। इसके आगे सातवीं [२२]**भवनभूमि** हैं, जिनमें ध्वजा-पताकायुक्त अनेक भवन हैं। इस भवनभूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य में जिनप्रतिमाओं युक्त नौ-नौ [२३]**स्तूप** (कुल ७२ स्तूप) हैं। इसके आगे [२४]**चतुर्थ कोट** (साल) है, जो कल्पवासी देवों द्वारा रक्षित है।

इसके आगे अन्तिम आठवीं [२५]**श्रीमण्डप** भूमि है। इसमें कुल १६ सोलह दीवालों के मध्य [२६]**बारह कोठे** (सभा) हैं। इस कोठों के भीतर पूर्वादि प्रदक्षिण-क्रम से पृथक्-पृथक् बारह गण बैठते हैं। उन बारह कोठों में से प्रथम कोठे में अक्षीणमहानसिक ऋद्धि तथा सर्पिरास्रव, क्षीरास्रव एवं अमृतास्रवरूप रस-ऋद्धियों के धारक पूज्य गणधर देव प्रमुख एवं अन्य मुनिराज बैठा करते हैं।

स्फटिकमणिमयी दीवालों से व्यवहित दूसरे कोठे में कल्पवासिनी देवियाँ एवं तीसरे कोठे में अतिशय विनम्र पूज्य आर्यिकाएँ और श्राविकाएँ बैटती हैं। चतुर्थ कोठे में परमभक्ति से संयुक्त ज्योतिषी देवों की देवियाँ और पाँचवें कोठे में व्यन्तर देवों की विनीत देवियाँ बैठती हैं। छठे कोठे में जिनेन्द्रदेव के अर्चन में कुशल भवनवासिनी देवियाँ और सातवें कोठे में दस प्रकार के जिनभक्त भवनवासी देव बैठते हैं। आठवें कोठे में किन्नरादिक आठ प्रकार के व्यन्तरदेव और नवमें कोठे में जिनेन्द्रदेव में मन को निर्विष्ट करनेवाले चन्द्र-सूर्यादिक ज्योतिषीदेव बैठते हैं। दसवें कोठे में सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त के देव एवं उनके इन्द्र तथा ग्यारहवें कोठे में चक्रवर्ती, माण्डलिक राजा एवं अन्य मनुष्य बैठते हैं और बारहवें कोठे में हाथी, सिंह, व्याघ्र और हिरणादिक तिर्यंच जीव बैठते हैं। इनमें परस्पर जाति-विरोधी जीव पूर्व वैर को छोड़कर शत्रु भी उत्तम मित्रभाव से संयुक्त होते हैं।

इनके अनन्तर निर्मल स्फटिक पाषाणों से विरचित और अपने-अपने चतुर्थ कोट के सदृश विस्तारादि सहित [२७]**पांचवीं वेदी** होती है।

इसके आगे वैडूर्य-मणियों से निर्मित [२८]**प्रथम पीठ** है, इस पीठ की ऊँचाई अपने-अपने मानस्तम्भादि की ऊँचाई सदृश है। इस पीठ

के ऊपर बारह कोठों में से प्रत्येक कोठे के प्रवेश द्वार में एवं चारों वीथियों के सम्मुख सोलह-सोलह सोपान होते हैं। पीठ की परिधि का प्रमाण अपने-अपने विस्तार से तिगुणा होता है, यह पीठिका उत्तम रत्नों से निर्मित एवं अनुपम रमणीय शोभा से सम्पन्न होती है। चूड़ी सदृश गोल तथा नाना प्रकार के पूजा-द्रव्य एवं मंगलद्रव्यों सहित इस पीठ पर चारों दिशाओं में धर्मचक्र को सिर पर रखे हुए यक्षेन्द्र स्थित हैं। पूर्वोक्त गणधर देवादिक बारह गण उस पीठ पर चढ़कर और तीन प्रदक्षिणा देकर बार-बार जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं तथा सैकड़ों स्तुतियों द्वारा कीर्तन कर कर्मों की असंख्यात गुणश्रेणी रूप निर्जरा करके प्रसन्नचित्त होते हुए अपने-अपने कोठों में प्रवेश करते हैं अर्थात् अपने-अपने कोठों मे बैठ जाते हैं।

[इस प्रथम पीठ के ऊपर आगे कोई भी देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि नहीं जाते।]

प्रथम पीठ के ऊपर [२९]द्वितीय पीठ होता है। उस स्वर्णमयी पीठ के ऊपर चढ़ने के लिए चारों दिशाओं में पाँच वर्ण के रत्नों से निर्मित समान आकार वाले आठ-आठ सोपान होते हैं। इस पीठ पर सिंह, बैल, कमल, चक्र, वस्त्र, माला, गरुड़ और हाथी इन चिह्नों से युक्त ध्वजाएँ शोभायमान हैं तथा अष्ट मंगलद्रव्य, नवनिधि, धूपघट आदि शोभित हैं।

[नोट :- ये धूपघट ऐसे नहीं होते कि उनमें अग्नि हो और उसमें धूप डालने से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती हो। ये तो देवोपनीत हैं, इनमें सुगंध तो होती है, परन्तु हिंसा रंचमात्र भी नहीं होती, इसीप्रकार पुष्प भी देवोपनीत होते हैं, वनस्पतिकाय के नहीं हैं, जो उनके तोड़ने में स्थावर जीवों की और उनमें रहनेवाले त्रस जीवों की हिंसा हो। समवशरण में हिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि सौधर्म इन्द्र विक्रिया से चाहे जैसी रचना करवा सकता है, फिर भी हिंसा लेशमात्र भी नहीं होती। पुष्प, दीप और धूपघट का वर्णन पढ़कर हिंसाकारक क्रियाओं का प्रचार वीतरागदेव के मंदिर में नहीं होना चाहिए।]

इस द्वितीय पीठ के ऊपर विविध प्रकार के रत्नों से खचित [३०]तृतीय पीठ होता है। उसकी ऊँचाई अपनी दूसरी पीठिका के सदृश होती

है। इसका विस्तार प्रथम पीठ के विस्तार के चतुर्थ भाग प्रमाण होता है और तिगुणे विस्तार से कुछ अधिक इसकी परिधि होती है। सूर्यमण्डल सदृश गोल होती है। इस पीठ पर एक [३१]गंधकुटी होती है। यह गंधकुटी चामर, किंकणी, वन्दमाला एवं हारादिक से रमणीय, गोशीर, मलयचन्दन और कालागुरु समान धूपों की सुगंधसे व्याप्त, प्रज्वलित रत्नदीपों से युक्त तथा नाचती हुई विचित्र ध्वजाओं की पंक्तियों से संयुक्त होती है।

इस गंधकुटी की चौड़ाई पचास धनुष प्रमाण है और ऊँचाई पचहत्तर धनुष प्रमाण है। इस गंधकुटी के मध्य पादपीठ सहित उत्तम स्फटिकमणियों से निर्मित एवं घन्टियों के समूह से रमणीय सिंहासन होता है। लोकालोक को प्रकाशित करने के लिए सूर्य सदृश भगवान अरहन्त देव उस सिंहासन पर आकाश में चार अंगुल के अन्तराल से विराजमान रहते हैं।

[नोट :- समवशरण का विस्तृत विवरण तिलोयपण्णति ग्रन्थ से तथा चित्रादि से सहित विवरण जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग ४ से जानना चाहिये।]

जिनेन्द्रदेव चौंतीस अतिशय से युक्त होते हैं, जिनमें जन्म के दस अतिशय तो विदित हैं एवं ग्यारह केवलज्ञान के अतिशय होते हैं, जो इसप्रकार हैं - (१) अपने स्थान से चारों दिशाओं में एक सौ योजन पर्यंत सुभिक्षता, (२) आकाशगमन, (३) अहिंसा (हिंसा का अभाव), (४) स्वयं भोजन नहीं करना, (५) उपसर्ग का अभाव, (६) सबकी ओर मुख करके स्थित होना, (७) छाया नहीं पड़ना, (८) निर्निमेष दृष्टि (९) विद्याओं की ईशता, (१०) शरीर में नख-केश का न बढ़ना तथा (११) अठारह महा भाषा, सात सौ लघु भाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाएँ हैं, उनमें तालु दाँत ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित एक साथ स्वभावत: अस्खलित तथा अनुपम दिव्यध्वनि द्वारा भव्यजनों को दिव्य उपदेश तीनों संध्या कालों में नव मुहूर्तों तक निकलना, जो एक योजन पर्यन्त विस्तारित हो जाती है। इसके अतिरिक्त इन्द्र चक्रवर्ती आदि के आने पर असमय में भी अर्थात् मध्यरात्रि में भी दिव्यध्वनि खिर जाती है और तेरह अतिशय देवों कृत होते हैं।

तीर्थंकर भगवंतों के अष्ट प्रातिहार्य भी होते हैं। (१) तीर्थंकर प्रभु को जिस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान लक्ष्मी उदित होती है, उस वृक्ष का नाम अशोकवृक्ष है, (श्री वीरप्रभु को जिस वृक्ष के नीचे कैवल्य प्रगट हुआ, उसका नाम लोक में शालवृक्ष होनेपर भी वह अशोकवृक्ष ही कहलाता है)। जो लटकती हुई मोतियों की मालाओं, घंटों के समूहों से रमणीय तथा पल्लवों एवं पुष्पों से झुकी हुई शाखाओं वाला यह अशोकवृक्ष अत्यन्त शोभायमान होता है। इस अशोकवृक्ष को देखकर इन्द्र का भी चित्त अपने उद्यान-वनों में नहीं रमता है। (२) सिर पर तीन छत्र (३) सिंहासन (४) भक्तियुक्त गणों (द्वादश गण) द्वारा वेष्ठित (५) दुन्दुभि वाद्य, (६) पुष्पवृष्टि होना, (७) प्रभामण्डल और (८) देवों के हाथों से झुलाये (ढोरे) गए मृणाल, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा एवं शंख जैसे सफेद चौंसठ चामरों से विराजमान जिनेन्द्रभगवान जयवन्त होते हैं। ऐसे मुक्तिपति तीर्थंकरों को मेरा नमस्कार हो।

श्रेणिक को समवशरण के समाचार

अनेक राजागणों से पूज्य ऐसे महाराजा श्रेणिक अपनी राजसभा में सिंहासन पर आसीन हैं। जैसे सुमेरु पर्वत से बहने वाले झरने सूर्य की किरणों से चमचमाते हैं, वैसे ही राजा श्रेणिक के दोनों ओर ढुरनेवाले चमर चमचमा रहे हैं। तथा चंद्रमंडल समान सिर पर छत्र शोभ रहा है।

इसी मंगलमयी बेला में राजगृही नगरी के विपुलाचलपर्वत को महामंगलमयी श्री वीरप्रभु के समवशरण ने पवित्र किया। इन्द्र ने भी प्रमुदित चित्त से द्वादश सभाओं की रत्नमयी रचना कराके अपने को कृतार्थ अनुभव किया। विपुलाचल पर्वत के उद्यानों में छहों ऋतुओं के फलफूल प्रगट होकर मानो प्रभु की पवित्रता का अभिनन्दन कर रहे हैं।

तभी वनपाल ने उद्यान में प्रवेश किया, वहाँ कोयल की कूक सुनकर वह आश्चर्यचकित हो गया, वृक्षों की ओर देखते ही उसका विस्मय दुगुना हो गया। बिना ऋतुओं के समस्त फलफूलों को देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा? तब फिर वह पर्वत की ओर देखता

है तो उसे भव्य समवशरण एवं उसके मध्य विराजमान भगवान दिखे उसने तत्काल हाथ जोड़कर नमस्कार किया और शीघ्र ही श्रेष्ठतम फलों को चुनकर महाराजाधिराज श्रेणिक की सेवा में प्रस्तुत हुआ तथा राजा को प्रणाम कर सभी सुन्दर फलों को समर्पित करता हुआ खड़ा हो गया।

महाराज श्रेणिक ने वनपाल से समस्त ऋतुओ के सुन्दर-सुन्दर फलों को पाकर आश्चर्य व्यक्त किया तथा उसके प्रस्तुत होने का कारण पूछा?

तब वनपाल हाथ जोड़कर कहने लगा - "हे राजन्! मैं एक आनंदमयी समाचार सुनाने प्रस्तुत हुआ हूँ। वह समाचार यह है कि मैंने अपने ही नेत्रों से प्रत्यक्ष एक आश्चर्यकारी दृश्य देखा है, जिसका पूर्ण वर्णन तो मैं नहीं कर सकता हूँ, फिर भी कुछ वर्णन अवश्य करता हूँ। हे महाराज! अनेक प्रकार से विपुलता को प्राप्त इस विपुलाचल पर्वत पर मंगलमयी देशना बरसाता हुआ श्री वीरप्रभु का समवशरण रचा हुआ है, जिसकी शोभा अद्भुत है। उसमें स्वर्गलोक के देवगण भी नतमस्तक हो, भक्तिविभोर हो प्रभु की सेवा-उपासना में मग्न हैं।"

वनपाल से आनंदमयी समाचार सुनकर राजा अति ही आनंदित हुआ। सिंहासन से उठकर सात कदम आगे चलकर प्रभु को परोक्ष नमस्कार किया तथा उसने उसी समय तत्काल ही भेरी बजवाकर समस्त नगरवासियों को उत्साह सहित श्रीमज्जिनेन्द्र महावीर प्रभु के दर्शनार्थ चलने का समाचार कहला दिया।

श्री वीर प्रभु के विपुलाचल पर पधारने का संदेश शीघ्र ही सुगंधित वायु की भाँति सम्पूर्ण नगर में फैल गया। सभी नर-नारी शीघ्र ही स्वच्छ वस्त्रों को धारण कर हाथों में उत्तम-उत्तम द्रव्यों की थालियाँ लेकर पुलकित वदन चल दिये। भगवान के समवशरण के प्रताप से इस नगर में कोई रोगी नहीं रहा, कोई दीन-हीन और दरिद्री नहीं रहा, दुर्भिक्ष तो न जाने कहाँ चला गया। भूमि स्वर्ग-समान, कंकड़-कंटक रहित हो गई। मंद सुगंधित वायु चलने लगी।

महाराजा श्रेणिक भी समस्त इष्टजनों, श्रेष्ठजनों एवं नगरजनों के साथ श्रेष्ठ हाथी पर आसीन हो दल-बल सहित श्री वीर प्रभु के दर्शनार्थ विपुलाचल की ओर चल रहे हैं, परन्तु वे आज अत्यंत आश्चर्यचकित हैं, उन्हें ऐसा लग रहा है कि मानो उन्होंने नगर एवं उपवन प्रथम बार ही देखा हो। वे बारंबार विस्मय पूर्वक महावत से पूछते हैं - "हे महावत! तुम कौन से नगर में ले चल रहे हो? इस नगर को तो मैंने कभी देखा ही नहीं, इतनी सुगंधित वायु किस उपवन से आ रही है? यह पथ स्फटिकमणि के समान स्वच्छ क्यों दिख रहा है? ये पक्षीगण प्रमुदित हो मधुर स्वर से गायन क्यों कर रहे हैं? ये मयूरगण असमय में ही आनंद-विभोर हो नृत्य क्यों कर रहे हैं? अहो! यह कोयल की मीठी मधुर कूक कहाँ से आ रही है? अरे! अरे! महावत! देखो तो आम्रवृक्ष मीठे, स्वादिष्ट एवं लोचनानंद आमों के गुच्छों से शोभ रहे हैं, अरे, चारों ओर छहों ऋतुओं के फल-फूल? ये बिना ऋतु के ऋतुराज वसंत कैसे आ गए?"

सभी नगरवासी भी आश्चर्यचकित हैं, परन्तु राजा के साथ-साथ सभी चल रहे हैं। महावत भी सोचता है - "अरे! मैं कहीं अन्य रास्ते पर तो नहीं आ गया हूँ? यह सब क्या है? ऐसा तो मैंने भी कभी नहीं देखा।"

महावत चारों ओर अच्छी तरह देखता है, फिर उसे ऐसा निर्णय होता है - "नहीं, नहीं, यही सत्य मार्ग है।"

फिर महावत राजा को कहता है - "हे राजन्! यह वही नगर एवं उपवन है, जहाँ आप प्रतिदिन आया करते हैं। आज ये नगर एवं उपवन भी श्री वीरप्रभु की कैवल्य-लक्ष्मी का आनंद से स्वागत कर रहे हैं, इसलिए ही मनमोहक हरियाली फल-फूल एवं सभी पक्षीगण एकत्रित हुए हैं।"

वन में से वनराज सिंह, बाघ, हाथी, घोड़ा, सियार, चीता, वानर आदि और कूकर, बिल्ली, चूहा, सर्प, अजगर आदि सभी जाति विरोधी और अविरोधी थलचर पशु भी वैर-विरोध छोड़कर शांतभाव से प्रभु के दर्शनार्थ चले आ रहे हैं। काग, चिड़िया, मोर, कबूतर, तोता आदि सभी नभचर पक्षी भी आनंद से उड़ते हुए प्रभु के

दर्शनार्थ आ रहे हैं। सभी प्राणी अत्यंत हर्षायमान हैं। प्रभु का कैवल्य सभी जीवों को निज कैवल्य प्रगटाने के लिए प्रेरणा दे रहा है।

''मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥

हे समस्त लोक के प्राणियों! तुम विभ्रमरूपी पर्दे को समूलतः चीरकर फेंक दो और यह जो शांतरस से लबालब भरा ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा है, उसमें अच्छी तरह सभी एकसाथ ही आकर अन्तर्मग्न हो जाओ अर्थात् अब बाहर आना ही नहीं।''

मानो यही बात दुन्दुभिवाद्य नाम का प्रातिहार्य भी कह रहा है - ''हे जीवो! मोह रहित होकर जिनेन्द्र प्रभु की शरण में जाओ।''

भव्य जीवों को ऐसा उपदेश देने के लिए ही मानो देवों का दुन्दुभी बाजा गंभीर शब्द करता है। दुन्दुभी बाजे के गंभीर नाद की प्रेरणा से आकर्षित होकर राजा श्रेणिक आदि भी सभी जन प्रभु के दर्शनार्थ समवशरण में पहुँच चुके हैं। सभी ने हाथ जोड़कर, मस्तक नवाकर, भक्तिभाव से प्रभु को नमस्कार किया। तीन प्रदक्षिणा देकर सभी स्तुति कर रहे हैं -

नाथ चिद्रूप दिखावे रे, परम ध्रुव ध्येय सिखावे रे॥ टेक॥
चेतनबिम्ब जिनेश्वर स्वामी, ध्यानमयी अविकारा।
दर्पण सम चेतन पर्यय गुण, द्रव्य दिखावनहारा॥

इसके बाद सभी ने अपने-अपने स्थान पर बैठकर प्रभु की दिव्यध्वनि श्रवण की। फिर श्रेणिक राजा ने हाथ जोड़कर विनय सहित गौतम स्वामी से कुछ प्रश्न पूछे – ''हे गुरुवर! सात तत्त्वों का क्या स्वरूप है? धर्म किसे कहते हैं? उस धर्म की प्राप्ति का क्या उपाय है?''

तब चार ज्ञान से सुशोभित, अनेक ऋद्धियों के अधिपति एवं क्षमा, शांति, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों के धारक श्री गौतम गणधरदेव ने राजा के प्रश्नों के उत्तर स्वरूप जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का वर्णन किया –

''हे भव्योत्तम! तत्त्व सात होते हैं, जिनके नाम इसप्रकार हैं जीव तत्त्व, अजीव तत्त्व, आस्रव तत्त्व, बंध तत्त्व, संवर तत्त्व,

निर्जरा तत्त्व और मोक्ष तत्त्व। इनका स्वरूप क्रमशः इसप्रकार जानना चाहिये -

जीव तत्त्व :- छह द्रव्यों के समुदाय स्वरूप इस लोक में जो ज्ञान-दर्शन चेतना लक्षण से लक्षित है, वह जीव तत्त्व है। वह सदा सत्‌स्वरूप असंख्यातप्रदेशी अनादि-अनंत एवं अनंतगुणों का धारक है। वह परमार्थ से चैतन्य, सुख, सत्ता और अवबोध प्राणों से जीता है और व्यवहार से पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छवास - इन दस प्राणों से जीता है, इसे आत्मा भी कहते हैं। हे श्रेणिक! ऐसे निजात्मा का ही आश्रय लेना योग्य है।

अजीव तत्त्व :- जिसमें ज्ञान-दर्शनादि गुण नहीं पाये जाते, जो सदा पूरन-गलन स्वभाव वाला तथा जिसमें स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण पाये जाते हैं - ऐसा यह पुद्‌गल द्रव्य अजीव है और इसके अलावा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल - ये भी अचेतन एवं अमूर्तिक होने से अजीव तत्त्व में ही गर्भित है।

आस्रव-बन्ध तत्त्व :- अपने आत्मस्वभाव को भूलकर जीव ने जो अनादि से मोह-राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा एवं वेदादि के विकारी भाव किये हैं और अभी भी कर रहा है, वही आस्रव तत्त्व है तथा इन विकारी भावों को अच्छा मानकर उन्हें ही पोषता है, उनमें ही हितबुद्धि करता है - यही बन्ध तत्त्व है। ये ही जीव को दुःखरूप हैं और भावी दुःख के कारण हैं, इसलिए बुधजन इन्हें छोड़ देते हैं।

संवर-निर्जरा-मोक्ष तत्त्व :- जो जीव अपने ज्ञायक स्वभाव को जानकर, विकारी भावों को छोड़कर अपने में रमता है - स्थित होता है, उसे जो आंशिक वीतरागी भाव उत्पन्न होता है, वही संवर तत्त्व है और उत्पन्न हुए वीतरागी भावों में शुद्धि की वृद्धि होना ही निर्जरा तत्त्व है और निजात्मा में पूर्ण रमना अर्थात् पूर्ण शुद्धता का प्रगट होना एवं सम्पूर्ण अशुद्धता का नाश होना ही मोक्ष तत्त्व है।

दर्शनार्थ आ रहे हैं। सभी प्राणी अत्यंत हर्षायमान हैं। प्रभु का कैवल्य सभी जीवों को निज कैवल्य प्रगटाने के लिए प्रेरणा दे रहा है।

''मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥

हे समस्त लोक के प्राणियों! तुम विभ्रमरूपी पर्दे को समूलतः चीरकर फेंक दो और यह जो शांतरस से लबालब भरा ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा है, उसमें अच्छी तरह सभी एकसाथ ही आकर अन्तर्मग्न हो जाओ अर्थात् अब बाहर आना ही नहीं।''

मानो यही बात दुन्दुभिवाद्य नाम का प्रातिहार्य भी कह रहा है - ''हे जीवो! मोह रहित होकर जिनेन्द्र प्रभु की शरण में जाओ।''

भव्य जीवों को ऐसा उपदेश देने के लिए ही मानो देवों का दुन्दुभी बाजा गंभीर शब्द करता है। दुन्दुभी बाजे के गंभीर नाद की प्रेरणा से आकर्षित होकर राजा श्रेणिक आदि भी सभी जन प्रभु के दर्शनार्थ समवशरण में पहुँच चुके हैं। सभी ने हाथ जोड़कर, मस्तक नवाकर, भक्तिभाव से प्रभु को नमस्कार किया। तीन प्रदक्षिणा देकर सभी स्तुति कर रहे हैं -

नाथ चिद्रूप दिखावे रे, परम ध्रुव ध्येय सिखावे रे॥ टेक॥
चेतनबिम्ब जिनेश्वर स्वामी, ध्यानमयी अविकारा।
दर्पण सम चेतन पर्यय गुण, द्रव्य दिखावनहारा॥

इसके बाद सभी ने अपने-अपने स्थान पर बैठकर प्रभु की दिव्यध्वनि श्रवण की। फिर श्रेणिक राजा ने हाथ जोड़कर विनय सहित गौतम स्वामी से कुछ प्रश्न पूछे – ''हे गुरुवर! सात तत्त्वों का क्या स्वरूप है? धर्म किसे कहते हैं? उस धर्म की प्राप्ति का क्या उपाय है?''

तब चार ज्ञान से सुशोभित, अनेक ऋद्धियों के अधिपति एवं क्षमा, शांति, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणो के धारक श्री गौतम गणधरदेव ने राजा के प्रश्नों के उत्तर स्वरूप जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का वर्णन किया –

''हे भव्योत्तम! तत्त्व सात होते हैं, जिनके नाम इसप्रकार हैं – जीव तत्त्व, अजीव तत्त्व, आस्रव तत्त्व, बंध तत्त्व, संवर तत्त्व,

निर्जरा तत्त्व और मोक्ष तत्त्व। इनका स्वरूप क्रमशः इसप्रकार जानना चाहिये -

जीव तत्त्व :- छह द्रव्यों के समुदाय स्वरूप इस लोक में जो ज्ञान-दर्शन चेतना लक्षण से लक्षित है, वह जीव तत्त्व है। वह सदा सत्स्वरूप असंख्यातप्रदेशी अनादि-अनंत एवं अनंतगुणों का धारक है। वह परमार्थ से चैतन्य, सुख, सत्ता और अवबोध प्राणों से जीता है और व्यवहार से पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास - इन दस प्राणों से जीता है, इसे आत्मा भी कहते हैं। हे श्रेणिक! ऐसे निजात्मा का ही आश्रय लेना योग्य है।

अजीव तत्त्व :- जिसमें ज्ञान-दर्शनादि गुण नहीं पाये जाते, जो सदा पूरन-गलन स्वभाव वाला तथा जिसमें स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण पाये जाते हैं - ऐसा यह पुद्गल द्रव्य अजीव है और इसके अलावा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल - ये भी अचेतन एवं अमूर्तिक होने से अजीव तत्त्व में ही गर्भित है।

आस्रव-बन्ध तत्त्व :- अपने आत्मस्वभाव को भूलकर जीव ने जो अनादि से मोह-राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा एवं वेदादि के विकारी भाव किये हैं और अभी भी कर रहा है, वही आस्रव तत्त्व है तथा इन विकारी भावों को अच्छा मानकर उन्हें ही पोषता है, उनमें ही हितबुद्धि करता है - यही बन्ध तत्त्व है। ये ही जीव को दुःखरूप हैं और भावी दुःख के कारण हैं, इसलिए बुधजन इन्हें छोड़ देते हैं।

संवर-निर्जरा-मोक्ष तत्त्व :- जो जीव अपने ज्ञायक स्वभाव को जानकर, विकारी भावों को छोड़कर अपने में रमता है - स्थित होता है, उसे जो आंशिक वीतरागी भाव उत्पन्न होता है, वही संवर तत्त्व है और उत्पन्न हुए वीतरागी भावों में शुद्धि की वृद्धि होना ही निर्जरा तत्त्व है और निजात्मा में पूर्ण रमना अर्थात् पूर्ण शुद्धता का प्रगट होना एवं सम्पूर्ण अशुद्धता का नाश होना ही मोक्ष तत्त्व है।

इन तत्त्वों का भाव सहित श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। कहा भी है - । **तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।** जो जीव इसप्रकार के श्रद्धान-ज्ञान-सहित व्रत-तप अर्थात् निजस्वरूप में विश्रांतिरूप तपादि करता है, वही सम्यक्चारित्र है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है और यही धर्म है जो कि मोह-क्षोभ-विहीन निज आत्मा का परिणाम है। इसी मोक्षमार्ग पर चलकर अनंत जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है। तीनकाल और तीनलोक में यही एकमात्र उपाय है।''

इस प्रकार श्री गौतमस्वामी द्वारा तत्त्वों का एवं मोक्षमार्ग आदि धर्म का स्वरूप समझकर श्रेणिक राजा अति प्रसन्न हुए। इतने में ही आकाश से अद्भुत तेजयुक्त कोई पदार्थ नीचे उतरता हुआ दिखाई पड़ा। वह ऐसा चमक रहा था, मानो सूर्यबिम्ब ही अपना दूसरा रूप बनाकर पृथ्वीतल पर श्री वीतराग प्रभु के दर्शन के लिये आ रहा हो। सभी उस तेज को देख तो रहे हैं, मगर कुछ समझ नहीं पा रहे हैं, इसलिए उसी के संबंध में सभी जन आपस में एक-दूसरे से पूछने लगे - ''ये क्या है? ये क्या है?''

इसीप्रकार का प्रश्न श्रेणिक राजा के अन्दर भी उत्पन्न होने से वे अपनी जिज्ञासा शांत करने हेतु हाथ जोड़कर विनयसहित श्री गौतमस्वामी गुरुवर से पूछने लगे - ''हे गुरुवर! यह तेज किस चीज का है, जो आकाश मार्ग से गमन करता हुआ पृथ्वीतल पर आ रहा है? इसके अकस्मात् आने का क्या कारण है?''

गुरुवर बोले - ''हे राजन्! यह तेज महाऋद्धिधारी विद्युन्माली नाम के देव का है। धर्म में अनुराग होने से यह अपनी चारों देवियों सहित श्री वीरप्रभु की वंदना के लिए पृथ्वीतल पर चला आ रहा है। यह भव्यात्मा आज से सातवें दिन स्वर्ग से चयकर मानवपर्याय को धारण करेगा तथा इसी मनुष्यपर्याय में अपनी आराधना को पूर्ण करके मोक्षसुख को प्राप्त करेगा।

श्री गौतमस्वामी के मुख से उस तेजमयी देव का स्वरूप जानकर श्रेणिक राजा का हृदय एक ओर तो उस आराधक की बात सुनकर प्रमुदित हो उठा, दूसरी ओर देवों की अंतिम छह माह में क्या स्थिति होती है, उस बात को याद करके स्तब्ध हो गया। कुछ

विचार करने के बाद राजा ने अंजुली जोड़कर पूछा - "हे गुरुवर! कुछ समय पूर्व ही मैंने शास्त्र में पढ़ा था कि देवों की मृत्यु के छह माह पूर्व उनकी माला मुरझा जाती है, शरीर कांतिहीन हो जाता है, कल्पवृक्षों की ज्योति मंद हो जाती है; परन्तु हे नाथ! इस देव के तो ये कुछ चिह्न दिखाई ही नहीं देते। इसका क्या कारण है?"

श्रेणिक राजा के अन्दर उत्पन्न हुए संशयरूपी अंधकार को नष्ट करनेवाली सहज ही श्री वीर प्रभु की दिव्यध्वनि खिरी - "हे भव्य! इस देव का वृत्तांत जगत को आश्चर्यकारी एवं वैराग्योत्पादक है। यह देव इसके बाद मनुष्यपर्याय को धारण करके केवलज्ञान लेकर अंतिम केवली बनकर मुक्त दशा को प्राप्त करेगा।"

श्रेणिक - "हे प्रभो! अद्भुत दैदीप्यमान तेज के धारी इस पवित्रात्मा देव की पूर्व भवों की साधना-आराधना का वृत्तांत सुनने की मुझे जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। उसे बताकर हम पर उपकार कीजिए।"

तब वीरप्रभु की दिव्यध्वनि खिरी -

भावदेव-भवदेव ब्राह्मण की कथा

धन-धान्य एवं सुवर्णादि से पूर्ण इस मगधदेश में पूर्वकाल में एक वर्धमान नाम का नगर था, जो वन, उपवन, कोट एवं खाइयों से युक्त और अत्यन्त शोभनीय था। उसी नगर में वेदों के ज्ञाता अनेक ब्राह्मण लोग रहते थे, जो पुण्य-प्राप्ति हेतु यज्ञ में पशु आदि की बलि चढ़ाते थे। उन्हीं में एक आर्यवसु नाम का ब्राह्मण भी था, वह भी धर्म-कर्म में प्रवीण था। उसकी सोमशर्मा नाम की पत्नी थी, जो सीता के समान सुशील एवं पतिव्रता थी। उसके भावदेव और भवदेव नाम के दो पुत्र थे, जो चन्द्र-सूर्य के समान शोभते थे। जाति से ब्राह्मण होने के कारण उन्होंने वेद, शास्त्र, व्याकरण, वैद्यक, तर्क, छन्द, ज्योतिष, संगीत, काव्य-अलंकार आदि विद्याओं में कुशलता प्राप्त कर ली थी।

दोनों ही भाई ज्ञान-विज्ञान एवं वाद-विवाद में अति प्रवीण थे और जैसे पुण्य के साथ इन्द्रिय सुख का प्रेम होता है, वैसे ही

दोनों आपस में प्रीतिवंत थे। दोनों ही सुखपूर्वक वृद्धिंगत होते-होते कुमार अवस्था को प्राप्त हुए ही थे कि पापोदय से उनके पिता को कुष्ट रोग हो गया। उसके आँख, नाक आदि अंग-उपांग गलने लगे, जिससे वह दु:ख में अति व्याकुल हो गया था।

अरे, रे! प्राणियों को अज्ञान के समान और कोई दूसरा दु:ख नहीं है। ज्ञान-नेत्र बन्द होने से उसने पशुबलि आदि विवेकहीन कार्यों में पंचेन्द्रिय जीवों को वचनातीत दु:ख दिये थे, उनका फल तत्काल ही वह भोगने लगा। किसी भी इन्द्रिय का विषय-सेवन अच्छा नहीं। जब न्याय-नीति से प्राप्त उचित भोग आदि कार्य भी पापबंध के कारण होते हैं, तब भला पापों में मस्त होकर किये गये अनुचित कार्य कहाँतक अच्छे हो सकते हैं? इसलिये ज्ञानियों ने इन्द्रिय-विषयों को संसारस्वरूप तथा दु:खदायक जानकर विषतुल्य त्याग ही दिये। ये त्यागने योग्य ही हैं। आत्मा का आनंद निर्विकारी है, मोक्षसुख दायक हैं, इसलिए हे भव्य! उसी धर्मामृत का पान करो। यह मनुष्य रत्न बार-बार मिलना मुश्किल है। मनुष्यभव को हारने का कभी विचार भी नहीं करना चाहिए।

इतना होने पर भी अज्ञान-अंधकार से ग्रसित वह ब्राह्मण वेदना से छुटकारा पाने से लिए नित्य ही अपना मरण चाहने लगा, मगर आयु पूर्ण हुए बिना मरण कैसे हो सकता है? मरण न होने से वह कीट-पतंग के समान स्वयं अग्नि की चिता में गिरकर भस्म हो गया। पति-वियोग से पीड़ित उसकी पत्नी सोमशर्मा भी उसी चिता में जलकर भस्म हो गई। माता-पिता से रहित वे दोनों भाई महादु:खी हो गये। उन दोनों बालकों के ऊपर संकटों का पहाड़ टूट पड़ा, वे शोक से संतापित हो करुणा-उत्पादक विलाप करने लगे, तब उन्हें उनके परिवारजनों ने संबोधन कर धीरज बँधाया, जिससे वे दोनों कुछ सावधान हुए। उसके बाद उन्होंने अपने माता-पिता के उस कुल में जो-जो संध्या तर्पण आदि क्रिया-कर्म होते, उन्हें किया। पश्चात् अपने गृहकार्य आदि में लग गये तथा इसीप्रकार संसारिक कार्यों में लगे उनको बहुत दिन बीत गये।

उनके महाभाग्य से उसी नगर के वन में एक वीतरागी संत श्री सौधर्माचार्य योगिराज पधारे, जो साक्षात् धर्म की मूर्ति ही थे।

वे रत्नत्रय के धारी, बाह्याभ्यंतर सभी प्रकार के परिग्रह के त्यागी, जन्मे हुए बालकवत् नग्न दिगम्बर रूप के धारी एवं व्रत-समितियों में पूर्ण निर्दोष आचरणवंत थे। वे दया, क्षमा, शांति आदि गुणों से विभूषित थे। वे एकांत मतों के खण्डन करनेवाले एवं स्याद्वाद विद्या के धारी थे। वे उपसर्ग-परीषहों पर जय प्राप्त करनेवाले एवं तपरूपी धन से अलंकृत थे। ऐसे अनेक गुण युक्त वे आचार्य आठ मुनियों के संघ सहित वन में आ विराजमान हुए। अहो! मुनिराजों का स्वरूप कितना अलौकिक है। वीतरागी संतों का स्वरूप ऐसा ही होता है। वहाँ पूज्यवर सौधर्माचार्यजी का जगतजन को हितकर, वैराग्यवर्द्धक और आनंदमयी धर्मोपदेश हो रहा है। 'चलूँ, मैं भी धर्मामृत का पान करूँ'' - इस प्रकार विचार करके भावदेव ब्राह्मण वन के लिए चल दिया तथा शीघ्र ही वन में पहुँच कर आचार्यदेव को नमस्कार कर वहीं बैठ गया।

श्री सौधर्माचार्यजी का धर्मोपदेश

हे भव्य जीवों! इस संसार में सभी प्राणी धर्म से अनभिज्ञ होने से दुःखी हैं। चारों गतियों में प्रायः सभी जीव आत्माराधना से विमुख होकर मोह, राग, द्वेष में कुशलता के कारण दारुण दुःख से दुःखी हैं। संयोगों की अनुकूलता सुख का कारण नहीं और संयोगों का वियोग दुःख का कारण नहीं है। आत्मा में शरीर, मन, वाणी और इन्द्रियाँ नहीं हैं, भोग और उपभोग भी नहीं है। शरीरादिक स्वयं सुख से रहित हैं, उनमें सुख की कल्पना से सुखमयी निजात्मा को भूलकर, इन्द्रियों और उनके विषयों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, सुख से बहुत दूर हो अनादि से यह आत्मा वर्त रहा है।

हे आत्मन्! तुम स्वयं ज्ञान-आनंदमयी वस्तु हो, निजात्मा को शाश्वत सुखमयी वस्तु मानो और अतीन्द्रिय आनंद का भोग करो। इन अनित्य वस्तुओं में नित्य की कल्पना से, दुर्गति के कारणभूत मिथ्यात्वादि भावों में सुगति के भ्रम से, हे आत्मन्! तुम झपट्टे क्यों मार रहे हो? हे जीव! तू सुखाभासों में सुख के भ्रम से भूला है। तेरा सच्चा सुख तो तेरे में ही है और निज के आश्रय से उत्पन्न होने वाला रत्नत्रय ही धर्म है। इसलिए अपनी आराधना

कर! अपनी प्रभुता को तू देख! उसका विश्वास करके उसमें ही लीन हो जा! इत्यादि अनेक प्रकार से आचार्यदेव से ज्ञानामृत का पान कर भावदेव प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। उसे अब शीघ्र ही इस परम पवित्र धर्म को धारण करने की भावना जाग उठी

संसार से विरक्त भावदेव की मुनिदीक्षा

आचार्यवर का भवताप-नाशक और अनंत-सुखदायक उपदेश श्रवण कर भावदेव ब्राह्मण का हृदय भव और भव के भावों से काँप उठा। उसके हृदय में संसार, देह, भोगों के प्रति उदासीनता छा गई। मन-मयूर तो वैराग्यरस में हिलोरें लेने लगा। अब उसे एक क्षण भी इस संसार में नहीं रुचता था। वह अविलंब श्री सौधर्माचार्य गुरुवर के निकट जाकर विनय से हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर प्रार्थना करने लगा - "हे गुरुवर! मुझे परम आनंददायिनी भगवती जिनदीक्षा देकर अनुगृहीत कीजिए। हे स्वामिन्! मैं भवसमुद्र में डूब रहा हूँ, रत्नत्रय का दान देकर आप मेरी रक्षा कीजिए। अब मुझे मोक्ष का आनंदमयी अविनाशी सुख चाहिए। इन सुखाभासों में कभी सच्चे सुख की परछाई भी मुझे नहीं मिली। इसलिए हे प्रभो! मैं सर्व परिग्रह एवं सर्व सावद्य का त्याग करके आकिंचन्यत्व प्राप्त करना चाहता हूँ। इसमें ही मुझे सच्चा सुख भासित हो रहा है।"

भावदेव ब्राह्मण के भावों को देखकर एवं शांति की पिपासा भरे वचनों को सुनकर श्री सौधर्माचार्य गुरुवर ने उसे जाति, कुल आदि से पात्र जानकर अतीन्द्रिय आनंद देनेवाली और संसार-दुखों से मुक्ति प्रदान करनेवाली जैनेश्वरी दीक्षा देकर अनुगृहीत किया। श्री भावदेव मुनिराज मुक्ति की संगिनी जिनदीक्षा को प्राप्त कर अतीन्द्रिय आनंद का रसास्वादन करने लगे। शरीर होने पर भी अशरीरी दशा को साधने लगे। सिद्ध प्रभु से बातें करने लगे। आ हा हा! चलते-फिरते सिद्ध के समान उनमें तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप अकषायरस आनंदरस- वैराग्यरस उछलने लगा। स्वभाव की साधना देख विभाव एवं कर्मबंधनों ने अस्ताचल की राह ग्रहण कर ली।

जिस समय हो आत्मदृष्टि कर्म थर-थर काँपते हैं।
स्वभाव की एकाग्रता लख छोड़ खुद ही भागते हैं॥

संयम की संभाल करते हुए योगीराज श्री भावदेवजी इस पृथ्वीतल पर ईर्यासमिति पूर्वक, गुणों के निधान गुरुवर के साथ ही विहार करने लगे। सुख-दुःख के प्रसंगों में समताभावपूर्वक कभी आत्मध्यान, तो कभी स्वाध्याय में रत हो विचरण करने लगे। निःसंगी आत्मा की निःशल्य हो सम्यक् प्रकार से आराधना करने लगे, संतों की अंतर्बाह्य सहज दशा को निम्न प्रकार से कहा जा सकता है।

विषयसुख विरक्ताः शुद्धतत्वानुरक्ताः
तपसि निरतचित्ताः शास्त्रसंघातमत्ताः।
गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेतेः॥

जो विषयसुख से विरक्त हैं, शुद्ध तत्त्व में अनुरक्त हैं, तप में लीन जिनका चित्त है, शास्त्रसमूह में जो मत्त हैं, गुणरूपी मणियों के समुदाय से युक्त हैं और सर्व संकल्पों से मुक्त हैं, वे मुक्तिसुन्दरी के वल्लभ क्यों न होंगे? अवश्य ही होंगे।

गुणनिधि गुरुवर के उपदेश से निज परम-ब्रह्म भगवान आत्मा को देखकर भावदेव महाराज को अन्दर में ध्रुवधाम ध्येय की धुन लग गई। उस धुन ही धुन में वे उग्र तप तपने लगे। पश्चात् सविकल्प दशा में आकर वे विचारते हैं कि -

स्वाध्यायध्यानमैकाग्रयं ध्यायन्निह निरंतरम्।
शब्दब्रह्ममयं तत्वमभ्यसन् विनयानतः॥

मैं धन्य हूँ, कृतार्थ हूँ, भाग्यवान हूँ, अवश्य ही मैं भवसागर से तिरनेवाला हूँ, जो मैंने इस उत्तम जैनधर्म का लाभ प्राप्त किया है।

अनेक वन, उपवन, पर्वतों में संयम की साधना करते हुए एवं धर्मामृत की वर्षा करते हुए श्री सौधर्माचार्यजी संघ सहित विहार करते-करते कुछ समय बाद वर्धमानपुर (श्री भावदेव मुनिराज के नगर) में पुनः पधारे। स्व-पर के हित में तत्पर, शांत, प्रशांत रस में तल्लीन भावदेव मुनिराज को वहाँ अपने गृहस्थदशा के छोटे भाई भवदेव को संबोधित कर कल्याण मार्ग में लगाने का विचार आया। भवदेव ब्राह्मण उस नगर का प्रसिद्ध ख्याति-प्राप्त व्यक्ति था, परन्तु

विषयों की आँधी उस पर अपना रंग जमाये हुई थी। लेकिन हठग्राही, एकांतमतों के शास्त्रों में पारंगत, आत्महितकारी यथार्थ बोध से विमुख भवदेव की भव्यता का पाक अर्थात् यथार्थ बोध प्राप्ति की काललब्धि भी अब अति ही निकट आ गई थी।

भवि भागन वच जोगे वसाय,
तुम ध्वनि ह्वै सुनि विभ्रम नसाय।

"नगर के वन में श्री सौधर्माचार्य संघ सहित पधारे हुए हैं" - यह समाचार वायुवेग के समान सारी वर्धमानपुरी में फैल गया। इसलिये चारों ओर से नर-नारियों का समुदाय मुनिवरों के दर्शनार्थ उमड़ पड़ा। भवदेव को भी यह शुभ समाचार ज्ञात हुआ कि मुनिवर-वृन्दों के संघ में मेरे बड़े भ्राता श्री भावदेव मुनिराज भी पधारे हुए हैं। अपने भाई एवं गुरुजनों के दर्शनों की अति तीव्र भावना होने पर भी वह स्वयं के विवाह कार्य में व्यस्त होने से वहाँ नहीं जा पाया, परन्तु जैसे वीरप्रभु को सिंह के भव में उसे संबोधन करने हेतु आकाशमार्ग से दो चारणऋद्धिधारी मुनिवरों का आगमन हुआ था, उसीतरह भवदेव के साथ भी ऐसा बनाव बना कि - श्री भावदेव मुनिराज चर्या हेतु नगर में पधारे, उसीसमय भवदेव को उनके दर्शन का लाभ अनायास ही प्राप्त हो गया।

भवदेव तो आश्चर्यचकित हो मुनिवर की प्रशांत रस झरती वीतरागी मुद्रा को निर्निमेष देखता ही रहा। यद्यपि उसके हृदय में जो जिनधर्म के प्रति अप्रीति के भाव थे, तथापि वे सभी ऐसे पलायमान हो गये जैसे शीतल वायु (बरसाती हवा) के सम्पर्क से नमक पानी का रूप धारण कर बह जाया करता है। वह सोचता है कि "यह कोई चमत्कार है या मेरी दृष्टि में कुछ हो गया है, जो ये नग्न पुरुष इतने आनंदमय सौम्य मुद्रावंत दिखाई दे रहे हैं, जिनके वदन पर वस्त्र का एक ताना-बाना भी नहीं, पास में रंचमात्र भी धन-वैभव नहीं, उन वनखंडों के वासियों में यह शांति कहाँ से आ रही है? भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी, उपसर्ग, परीषहों की बाधाओं के मध्य यह कमल कैसे खिल रहा है? पंच इन्द्रियों के भोग-उपभोगों के साधनों के अभाव में ये सुख की अनुभूति कैसी? व्रत, उपासना, नीरस आहार आदि से इस वदन में कुंदन समान चमक कैसे आई?"

इत्यादि अनेक प्रकार के विचारों से ग्रसित मन को उसने सत्यता की खोज के लिए बाध्य कर ही दिया। सत्य के उस खोजी को अनेक प्रकार की ऊहा-पोह के बाद सत्यता का रहस्य हाथ लग ही गया। वह सत्यता थी जिनशासन एवं वीतरागभाव की। जिनशासन की यथार्थता का रहस्य पाकर वह मन ही मन अति प्रसन्न हो मुनिराज के चरणारविन्दों में नतमस्तक हो समीप में ही बैठ गया।

ज्ञानपयोनिधि मुनिराज श्री भावदेव ने उसके अन्तर की भावनाओं को, उसकी उदासीनता गर्भित प्रसन्नता को भाँप लिया। उसकी पात्रता मुनिराज के ख्याल में आ गई, इसलिए उनके मन में उस परम सुखदायक आर्हत धर्म का उपदेश देने का भाव उदित हो गया।

भावदेव मुनिवर द्वारा वैरागी धर्मवर्षा

हे मृग! तेरी सुवास से, वन हुआ चकचूर।
कस्तूरी तुझ पास में, क्या ढूँढत है दूर॥

हे आत्मन्! तू इस देह में रहकर भी देह से भिन्न एक आत्मा है। तेरा असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र है। तेरे एक-एक प्रदेश पर अनंतानंत गुण भरे हुए हैं। तू ज्ञान का भंडार है, सुख का खजाना है, आनंद का सागर है, उसमें डूबकी लगा। तू पंचेन्द्रियों के अनंत बाधा सहित एवं अनंत आपत्तियों के मूलभूत इन विषयों में सुख की कल्पना कर रहा है, परन्तु जरा सोच तो सही कि इस चतुर्गति रूप संसार में अनंत काल से भ्रमते-भ्रमते तूने इन्हें कब नहीं भोगा है? इनके भोग कौन से शेष रहे हैं, जो तूने नहीं भोगे हों? परन्तु आजतक क्या कभी एक क्षण के लिये भी इनसे सुख-शांति पाई है?

हे भव्य! पराधीनता में कहीं भी, किसी को भी सुख की गंध नहीं मिली है। यदि इन्द्रिय-विषयों में सुख होता तो श्री शांतिनाथ, श्री कुंथुनाथ और श्री अरनाथ भगवान तो चक्रवर्ती, कामदेव, और तीर्थंकर तीन-तीन पदवी के धारक थे, उन्हें कौन-सी कमी थी? फिर भी उन्होंने इन्द्रिय विषयों को एवं राज्यवैभव को गले हुए तृण के समान छोड़कर आत्मा के सच्चे अतीन्द्रिय सुख को अपनाया। इस शरीर रूपी कारागृह में फँसे हुए प्राणियों ने इसके नव मलद्वारों

से मल का ही सृजन कर मल का ही संचय किया है। यह देह मल से ही निर्मित है। उसके भोगों में सुख कहाँ से आयेगा?

नव मल द्वार बहें घिनकारी, नाम लिये घिन आवें।

यह शरीर तो अपवित्रता की मूर्ति है और भगवान आत्मा तो सदा पवित्रता की मूर्ति है। यह देह तो रोगों का भंडार है और भगवान आत्मा तो सदा ज्ञान-आनंद का निकेतन है। यह देह तो कागज की झोपड़ी के समान क्षण में उड़ जाने वाली है और भगवान आत्मा तो शाश्वत चेतन-बिम्ब है। इसलिए हे सज्जन! तू चेत! चेत!! और सावधान हो!!!

हे जीव! तूने अनेकों बार स्वर्ग-नरक के वासों को प्राप्त किया। और नरकों में दस हजार वर्ष से लेकर, क्रमश: तेतीस सागरोपम की स्थिति को प्राप्त करके अनेकों बार वहाँ जन्म-मरण किये। वहाँ भूमिकृत एवं अन्य नारकियों द्वारा दिये गये अगणित दु:ख भोगे। इसीतरह एकेन्द्रिय में एक स्वांस में अठारह बार जन्म-मरण के अपरंपार अकथित दु:ख भोगे। अब तो इस भव-भ्रमण से विराम ले! यह काया दु:ख की ढेरी है। ये इन्द्रिय के कल्पनाजन्य सुख नरक-निगोद के अनंत दु:खों के कारण हैं। हे बुध! तू ही विचार कि थोड़े दु:ख के बदले में मिलनेवाला अनंत सुख श्रेष्ठ है या थोड़े से कल्पित सुखों के बदले में मिलने वाला अनंत दु:ख श्रेष्ठ है?

नाम सुख अनंत दु:ख, प्रेम वहाँ विचित्रता।
नाम दु:ख अनंत सुख, वहाँ रही न मित्रता॥

हे वत्स! ऐसा सुख सदा ही त्यागने योग्य है कि जिसके पीछे अनंत दु:ख भरा हो। शाश्वत सुखमयी ज्ञायक ही तुम्हारा पद है। हे भाई! ये काम-भोग तो ऐसे हैं, जिनकी श्रेष्ठजन - साधुजन स्वप्न में भी इच्छा नहीं करते। भोगीजन भी उन्हें भोगने पर स्वत: ही ग्लानि का अनुभव करते हैं। भोगने की बुद्धि भी स्वयं मोहांधरूप है। जिसे शुद्ध ज्ञानानंदमय आत्मा नहीं सुहाता, वह मग्नतापूर्वक भोगों में प्रवर्तता है, परन्तु हे भाई! वह तेरा पद नहीं है। वह तो अपद है, अपद है। इसलिए इस चैतन्यामृत का पान करने यहाँ आ! **यही** तेरा पद है! पद है!!

इमि जानि आलस हानि, साहस ठानि यह सिख आदरौ।
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ॥"

- इतना कहकर भावदेव मुनिराज तो वन में चले गये, परन्तु यहाँ मुनिराज के मुखारविंद से धर्मामृत का पान कर भवदेव ब्राह्मण के अन्दर संसार, देह, भोगों के प्रति कुछ विरक्ति के भाव जागृत हो उठे। उसने सकल संयम धारण करने की भावना होने पर भी उसी दिन विवाह होने से अपने को महाव्रतों को धारण करने में असमर्थ जान कर अणुव्रत ही अंगीकार कर लिये। परम सुख दाता जिनमार्ग को पाकर उसके हृदय में मुनिराज को आहारदान देने की भावना जाग उठी। उसने आहारदान देने की विधि ज्ञात की और अतिथिसंविभाग की भावना से आहारदान के समय अपने द्वार पर द्वारापेक्षण कर मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा कर ही रहा था कि संयम हेतु आहारचर्या के लिये मुनिराज नगर में आते दिखे। मुनिराज को आते देख वह नवधाभक्तिपूर्वक बोला -

"हे स्वामिन्! नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु! अत्र, अत्र, अत्र! तिष्ठो, तिष्ठो, तिष्ठो! मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि! आहार-जल शुद्ध है! –

इसप्रकार मुनिराज को पड़गाहन कर गृह-प्रवेश कराया, उच्च आसन दिया एवं पाद-प्रक्षालन तथा पूजन करके आहारदान दिया। पुण्योदय से उसे आहारदान का लाभ प्राप्त हो गया। भवदेव श्रावक के हर्ष का अब कोई पार न रहा। सिद्ध-सदृश यतीश्वर को पाकर वह अपने को कृतार्थ समझने लगा और आनंद-विभोर हो स्तुति करने लगा –

धन्य मुनिराज हमारे हैं, अहो! मुनिराज हमारे हैं॥ टेक॥

धन्य मुनिराज का चिंतन, धन्य मुनिराज का घोलन।
धन्य मुनिराज की समता, धन्य मुनिराज की थिरता॥ १॥

धन्य मुनिराज का मंथन, धन्य मुनिराज का जीवन।
धन्य मुनिराज की विभुता, धन्य मुनिराज की प्रभुता॥ २॥

आहार लेकर श्री भावदेव मुनिराज ने वन की ओर गमन किया जहाँ उनके गुरुवर श्री सौधर्माचार्यजी विराज रहे थे। ईर्यासमितिपूर्वक योगीराज गमन कर रहे हैं, उनकी विनय करने की भावना से भरे हृदय वाले अनेक नगरवासियों के साथ भवदेव श्रावक श्री गुरुवर को वन तक पहुँचाने के भाव से उनके पीछे-पीछे चल रहा है। कुछ व्यक्ति तो थोड़ी दूर जाकर मुनिराज को नमस्कार कर वापिस अपने-अपने घर को लौट आये, मगर भवदेव सोचता था कि मुनिराज आज्ञा देंगे, तभी मैं जाऊँगा। मुनिराज तो कुछ भी बोले बिना आनंद की धुन में झूलते-झूलते आगे बढ़ते ही जा रहे थे। भवदेव सोचने लगा - "अब हम नगर से बहुत दूर आ गये हैं, इसलिए भाई को बचपन के खेलने-कूदने के स्थलों की याद दिलाऊँ, शायद इससे वे मुझे वापिस लौटने की आज्ञा दे दें।"

भवदेव बोला - "हे प्रभो! हम दोनों बचपन में यहाँ क्रीड़ा करने आया करते थे। यह क्रीड़ा-स्थल अपने नगर से कितनी दूर है? यह उद्यान भी कितनी दूर है, जिसमें हम गेंद खेला करते थे? यहाँ अपने नगर का कमलों से सुशोभित सरोवर है, जहाँ हम स्नान किया करते थे। यहाँ हम दोनों मोर की ध्वनि सुनने बैठा करते थे।"

इत्यादि अनेक प्रसंगों की याद दिलाते हुए वह चल तो रहा था मुनिराज के साथ, मगर अपने हाथ में बँधी कंकण की गाँठ को देख-देखकर उसका मन अन्दर ही अन्दर आकुलित हो रहा था। उसके पैर मूर्छित मनुष्य की तरह लड़खड़ाते हुए पड़ रहे थे, उसके नेत्रों में पत्नी की ही छवि दिख रही थी और नवीन वधू नागवसु की याद से उसका मुखकमल भी मुरझाया जैसा हो गया था।

दूसरी ओर उसके मन में अनंत सुखमय वीतरागी संतों का मार्ग भी भा तो रहा ही था, उसका मन बारंबार इन्द्रियसुख से विलक्षण अतीन्द्रिय सुख का प्रचुर स्वसंवेदन करने के लिए प्रेरित हो रहा था। एक ओर सांसारिक दुःखों की भयंकर गहरी खाई तो दूसरी ओर सादि अनंत काल के लिए आत्मिक अनंत आनंद दिख रहा था।

अरे! "किसे अपनाऊँ - किसे न अपनाऊँ? मैं तो सुख का मार्ग ही अपनाऊँगा।" - इसप्रकार विचारमग्न भवदेव दुविधा में झूल रहा था - "अरे रे! वह नागवस्तु क्या सोचेगी? उसके ऊपर क्या बीत रही होगी? क्या एक निरपराधी के साथ ऐसा करना अनुचित नहीं होगा? क्या मैं पामर नहीं माना जाऊँगा? क्या मैं लोक में हँसी का पात्र नहीं होऊँगा?..... नहीं, नहीं लोक संज्ञा से लोकाग्र में नहीं जाया जा सकता। एक बार पत्नी और परिवारजन भले ही दुःखी हो लें, समाज कुछ भी कहे, मगर समझदारों का विवेक तो हमेशा हित-गवेषणा में तत्पर रहता है। मैं तो जैनेश्वरी दीक्षा ही अंगीकार करूँगा।"

इसप्रकार के द्वन्दों में झूलता हुआ भवदेव, मुनिराज के साथ पूज्य गुरुवर श्री सौधर्माचार्य के निकट पहुँच गया। गुरुराज को नमस्कार कर वहीं दोनों जन विनयपूर्वक बैठ गये। संघस्थ मुनिवर वृन्दों ने श्री भावदेव मुनिराज को कहा - "हे महाभाग्य! तुम धन्य हो, जो इस निकट भव्यात्मा को यहाँ इस समय लेकर आये हो। आप दोनों मोक्षमार्गी आत्मा हो। आप दोनों के कंधों पर ही धर्म का स्यन्दन (रथ) चलेगा।"

वन में विराजमान मोक्ष मंडली एवं वहाँ के शांत वातावरण को देख भवदेव मन ही मन विचारने लगा - "मैं परमपवित्र इस संयम को धारण करूँ या पुनः घर जाकर नवीन वधू को संबोध कर वापिस आकर जिनदीक्षा लूँ।"

संशय के हिंडोले में झूलता हुआ भवदेव का मन एक क्षण भी स्थिर न रह सका। वह विचारता है - "अभी मेरे मन में संशय है, अतः मैं दिगंबर वेष कैसे धर सकूँगा? और मेरा मन भी कामरूपी सर्प से डसा हुआ है। मेरे जैसा दीन पुरुष इस महान पद को कैसे धारण कर सकेगा? लेकिन यदि मैं गुरु-वाक्य को शिरोधार्य न करूँ तो मेरे बड़े भ्राता को बहुत ही ठेस पहुँचेगी।"

इसतरह उसने अनेक प्रकार के विकल्पजालों में फँसे हुए अपने मन को कुछ स्थिर करके सोचा तो अंततोगत्वा उसे परमसुखदायनी, आनंदप्रदायनी जैनेश्वरी दीक्षा ही श्रेष्ठ भासित हुई। फिर भी उसके मन में यह भाव भी आया कि कुछ समय यहाँ रहकर बाद में

अवसर पाकर मैं अपने घर को लौट जाऊँगा। पुनः उसका मन पलटा - "अरे! मुझे ऐसा करना योग्य नहीं। मैं अभी ही जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार करूँगा।"

भवदेव द्वारा मुनिदीक्षा अंगीकार

भवदेव, अनंत सुख की दाता पारमेश्वरी जिनदीक्षा के भावों से आकंठ पूरित हो गुरुवर्य श्री सौधर्माचार्य के चरणों में हाथ जोड़कर नमस्कार करता हुआ प्रार्थना करने लगा - "हे स्वामिन्! मैंने इस संसार में अनंत दुःखों से दुःखी होकर भ्रमते हुए आज ज्ञान-नेत्र प्रदान करने वाले तथा संसार से उद्धार करने वाले आपके चरणों की शरण पायी है, इसलिये हे नाथ! मुझे जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कर अनुगृहीत कीजिए। मैं अब इन सांसारिक दुःखों से छूटना चाहता हूँ।"

श्री सौधर्माचार्य गुरुवर ने अपने अवधिज्ञान से भवदेव के अन्दर जो विषयों की अभिलाषा छिपी हुई थी उसे जान तो लिया, लेकिन उसके साथ-साथ उन्हें उसका उज्ज्वल भविष्य भी ज्ञात हुआ कि इसकी पत्नी जो कि आर्यिका पद में सुशोभित होगी वह इसे संबोधेगी, तब यह भी महा वैराग्य-रस-धारी सच्चा मुनि होकर विचरेगा।

पारमेश्वरी जिनदीक्षा के अभिलाषी, वर्तमान में उदासीनता युक्त भवदेव को श्री गुरु ने अर्हंत धर्म की यथोक्त विधिपूर्वक जिनदीक्षा देकर अनुगृहीत किया। भवदेव ने भी पंचपरमेष्ठियों एवं सम्पूर्ण संघ तथा श्रोताजनों की साक्षीपूर्वक चौबीस प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर केशलोंच करके निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। श्री भवदेव मुनिराज सम्पूर्ण संघ के समान ही स्वाध्याय, ध्यान, व्रत एवं तपों को करने लगे, परन्तु कभी-कभी उनके हृदय में अपनी पत्नी की याद भी आ जाया करती थी, जिससे वे यह सोचने लगते थे कि वह तरुणी मेरा स्मरण कर-करके दुःखी होती होगी।

"अरे! इसप्रकार के विचार करना मुझे योग्य नहीं है। अब मैंने जिनदीक्षा धारण कर ली है, इसलिए मुझे सम्यक् रत्नत्रय की ही भावना करना योग्य है। संसार की कारणभूत स्त्री के स्मरण से अब मुझे क्या प्रयोजन है?" - इसतरह भवदेव मुनि ने अपने

भावों को पुनः आराधना में लगाया और संघसहित गुरुवर के साथ वर्धमानपुरी से विहार किया। अनेक वन, उपवन, जंगलों, पर्वतों आदि में विहार करते हुए पूज्य श्री गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञानदान को पाकर अध्ययन आदि के साथ संयम की आराधना करते हुए बहुत समय बीत गया।

एक बार श्री सौधर्माचार्य संघ सहित पुनः उसी वर्धमानपुरी के वनखंडों में पधारे। सर्व ही मुनिराज नगर के बाहर वन के एकांत स्थान में शुद्धात्मा के ध्यान में तल्लीन हो कायोत्सर्ग पूर्वक तप करने में संलग्न थे, उसीसमय भवदेव मुनिराज को विचार आया - ''आज मैं पारणा के लिये नगर में जाऊँगा और अपने घर में जाकर अपनी मनोहर पत्नी से मिलूँगा। मेरे विरह से उसकी दशा वैसी ही होती होगी, जैसे जल के बिना मछली की होती है'' - इसप्रकार के भाव करते हुए भवदेव मुनि वर्धमानपुरी को आ रहे हैं।

भवदेव मुनि तो संध्या के उस सूर्य की लालिमा के समान थे, जो रात्रि होने के पहले पश्चिम दिशा को जा रहा है। नगर में आकर उन्होंने एक सुन्दर एवं ऊँचे जिनमंदिर को देखा। वह मंदिर ऊँची-ऊँची ध्वजाओं एवं तोरणों से सुशोभित था। मणिरत्नों की मालायें उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। वहाँ अनेक नगरवासी दर्शन कर प्रदक्षिणा देकर भावभक्ति से प्रभु की पूजन करते थे, कोई मधुर स्वर में गान कर रहे थे, कोई शांत भाव से प्रभु का गुण-स्तवन कर रहे थे, कोई आत्म-शांति-हेतु चिंतवन-मनन में मग्न थे तथा कोई ध्यानस्थ बैठे हुए थे। भवदेव मुनि भी जिनेन्द्रदेव का दर्शन कर अपने योग्य स्थान में बैठ गये।

नागवसु द्वारा आर्यिका व्रत धारण

जब भवदेव अपने बड़े भ्राता भावदेव मुनिराज को विनयपूर्वक वन-जंगल तक पहुँचाने गये थे, तब आचार्य-संघ का दर्शन पा और आत्म-हितकारी उपदेश श्रवण कर भवदेव के मन में एक द्वन्द पैदा हो जाने से वे बहुत समय तक घर वापिस नहीं आये। इसलिए नागवसु को ऐसा विचार आया कि कहीं मेरे पतिदेव ने मुनिदीक्षा

तो धारण नहीं कर ली है? पता चलाने पर उसके विचार सत्य ही निकले। आचार्यदेव तो संघ सहित विहार कर ही गये थे। तब नागवसु ने सोचा - "जब पतिदेव ही दीक्षित हो गये हैं, तब मैं भी क्यों न उनका ही पंथ अंगीकार करूँ?"

अन्दर में कुछ उदासी तो आ गई थी, फिर भी वह घर में रहती हुई दिन-रात द्वन्द में पड़ी-पड़ी विचार करती थी - "जब पतिदेव ने ही भोग के समय योग धारण कर लिया, संसार को ठुकराकर सच्चे सुख का मार्ग ग्रहण कर लिया तो मैं भी क्यों न सच्चे सुख का ही मार्ग ग्रहण करूँ?"

वह पुनः अपने भावों को टटोलती है - "वीतरागी मार्ग में तो कठिनाइयाँ बहुत आती हैं। मैं उपसर्ग-परीषहों को कैसे सहूँगी? वनखंडों की सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि की बाधाओं को मेरा यह कोमल शरीर कैसे सहेगा? मैंने यह मार्ग कभी देखा ही नहीं, क्या पता मैं इसका निर्दोष पालन कर पाऊँगी या नहीं?" इत्यादि।

पुनः इसके भाव पलटते हैं - "अरे! गजकुमार, सुकुमाल एवं सुकौशलजी आदि तो मेरे से भी अधिक सुकोमल तन के धारी थे, बाह्य साधन-सामग्री भी बहुत थी, फिर भी उनने यह कुछ भी नहीं सोचा। बस जैसे वे अपने हित के मार्ग पर निकल पड़े थे, वैसे ही मुझे भी कुछ नहीं सोचना है। धर्म के आराधकों को तो आत्म-शांति की धुन में कुछ खबर ही नहीं पड़ती कि बाहर में क्या हो रहा है।"

मोक्षसुख की भावना से ओतप्रोत नागवस्तु ने भी पूज्य गणीजी के पास जाकर नमस्कार करके आर्यिकाव्रत प्रदान करने की प्रार्थना की - "हे माता! मेरा चित्त अब संसार के दुःखों से थक चुका है। मैंने धर्म से पराङ्मुख होकर नरक-निगोद के अनंत दुःख सहे हैं, अब मैं शांति चाहती हूँ, इसलिए हे माता! मुझे आत्म-शांति को देनेवाली दीक्षा देकर अपनी शरण में लीजिए।"

तभी पूज्य गणीजी ने नागवस्तु को पात्र जानकर आर्यिका के व्रत प्रदान किये। सम्यग्दर्शन एवं देशव्रतों से सुशोभित नागवस्तु आर्यिकाजी भी खूब अध्ययन एवं ध्यान में रत होकर उग्र तप करने लगीं।

उनने भी अपनी भूमिका के योग्य सर्वोत्कृष्ट दशा को अंगीकार कर लिया। उग्र तपों का आदर करने से आर्यिकाजी की आत्मशांति तो वृद्धिंगत होती जा रही थी, परन्तु तन हाड़-पिंजर हो गया था तथा ज्ञान-वैराग्य रस में पगी आर्यिकाजी भी पूज्य गणीजी एवं संघ के साथ अनेक नगरों तथा वन-जंगलों में विहार करती हुई बहुत समय के बाद वर्धमानपुरी के निकटवर्ती उद्यान में आकर तिष्ठ रही थीं।

आर्यिका नागवसु द्वारा भवदेव का स्थितिकरण

वे आहार-चर्या को निकलने के पहले जब जिन-मंदिर में जिनेन्द्रदेव के दर्शन करने को गईं तो ज्ञात हुआ कि कोई मुनिराज यहाँ पधारे हुए हैं। मुनिराज को चर्या हेतु निकल जाने के बाद वह स्वयं भी चर्या को निकलीं। आहार-चर्या करने के बाद मुनिराज पुनः जिन-मंदिर में पधारे, तब श्री नागवसु आर्यिकाजी अपनी गणीजी सहित उनके दर्शनार्थ पधारीं। आर्यिका-संघ ने मुनिराज को नमस्कार करते हुए रत्नत्रय की कुशलता पूछी। मुनिराज ने भी आर्यिका-व्रतों की कुशलता पूछी।

कुछ देर बाद विषय-वासना से डसे चित्त-युक्त भवदेव मुनि समभाव से आर्यिकाजी की ओर देखते हुए पूछते हैं - "हे आर्या! इस नगर में आर्यवसु ब्राह्मण के दो विद्वान एवं सर्वमान्य प्रसिद्ध पुत्र थे। उनमें से बड़े का नाम भावदेव एवं छोटे का नाम भवदेव था। वे वेद-पारगामी और वक्ता भी थे। हे पवित्रे! क्या आप उन्हें जानती हैं? उनकी दशा अब कैसी है? वे किसतरह रहते हैं?"

सुचरित्रवती एवं निर्विकार भाव को रखने वाली आर्यिकाजी प्रश्न सुनते ही सोचने लगीं - "अरे! मुनिराज को तो ज्ञान-वैराग्यवर्द्धक कुछ कहना या पूछना योग्य होता है, उसके बदले में ऐसा अयोग्य प्रश्न! अवश्य ही मुनिराज के अन्दर कुछ दूसरा ही कारण लगता है।"

फिर भी आर्यिकाजी ने शांतभाव से उत्तर देते हुए कहा - "हे महाराज! उन दोनों ब्राह्मण पुत्रों का महान पुण्योदय होने से उनने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। वे मंगलमयी आत्माराधना में संलग्न हैं।"

आर्यिकाजी के वचन सुनकर आतुरचित्त भवदेव मुनि पुनः प्रश्न करने लगे, मानो वे अपने अन्दर छिपे हुए खोटे अभिप्राय को ही उगल रहे हों - "हे आर्या! भवदेव के मुनि हो जाने के बाद उसकी नव-विवाहिता नागवसु पत्नी अब किस तरह रहती है?"

बुद्धिमान आर्यिकाजी ने उसके विकार युक्त अभिप्राय को, उसके भययुक्त मन को तथा काँपते हुए शरीर को देखा तो वे विचारने लगीं - "अरे, रे! यह मुनिपद धारण करके भी कैसा मति-विमोहित हो कामाध हो रहा है? यह निश्चित ही दुस्सह कामभाव से पीड़ित हुआ होने से कांच-खंड के लिये रत्न को खो बैठा है। इसलिए धर्म से विचलित होने वालों को धर्मामृत-पान द्वारा पुनः स्थितिकरण कराना मेरा कर्तव्य है।"

व्रत, शील एवं चारित्र को दृढ़ता से पालती हुई आर्यिकाजी विनय से मस्तक झुकाकर सरस्वती के समान सुखकारी वचनों से उन्हें संबोधने लगीं।

मोक्षसाधिका नागवसु आर्यिका द्वारा भवदेव मुनि को संबोधन

कषायकलिरंजितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारणं स्मरशरन्निदग्धं मुहुः।
स्वभावनियतं सुखे विधिवशादनासादितं
भजत्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः॥

हे यति! जो चित्त भव-भ्रमण का कारण है और बार-बार कामबाण की अग्नि से दग्ध है - ऐसे कषायक्लेश से रंगे हुए चित्त को तू अत्यन्त (पूर्णतः) छोड़ और जो विधिवशात् अप्राप्त है - ऐसे निर्मल स्वभाव-नियत सुख को तू प्रबल संसार की भीति से डरकर भज।

तपस्या लोकेस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्।
परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्बत कलिहतोऽसौ जड़मतिः॥

इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्यारी है, वह योग्य तपश्चर्या इन्द्रों को भी सतत वंदनीय है। उसे प्राप्त करके जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसारजनित सुख में रमता है, वह जड़मति, अरे रे! कलि से घायल हुआ है।

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येयप्रमुखसुतप: कल्पनामात्ररम्यम्।
बुद्ध्वा धीमान् सहज परमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे॥

हे बुद्धिमान! आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सब घोर संसार का मूल है। ध्यान, ध्येय आदि के विकल्पवाला शुभ तप भी कल्पनामात्र रम्य है - ऐसा जानकर धीमान् सहज परमानंदरूपी पीयूष के पूर में डूबते हुए ऐसे एक सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं।

शल्यत्रयं परित्यज्य नि:शल्ये परमात्मनि।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम्॥

हे श्रमण! तीन शल्यों का परित्याग करके, नि:शल्य परमात्मा में स्थित रहकर, विद्वान को सदा शुद्ध आत्मा को स्फुटरूप (प्रगटरूप) से भाना चाहिए।

हे महाराज! आप पूज्य हो, धीर हो, वीर हो, निर्ग्रन्थ हो, वीतरागी हो, महान बुद्धिमान हो, धन्य हो, जो तीन लोक में महादुर्लभ ऐसा चारित्रधर्म आपने अंगीकार किया है। ये महाव्रत स्वयं महान हैं। इसे महापुरुष ही धारण करते हैं और इनका फल भी महान है। इन्द्रों से भी पूज्य और मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर समान परमपवित्र साधुपद में आप तिष्ठ रहे हो। यह साम्यधर्म मोह-क्षोभ रहित आत्मा का अत्यंत निर्विकारी चैतन्य परिणाम है, यही चारित्र एवं धर्म है और यही सर्व अनुपम गुणों एवं लोकोत्तर सुखों का निधान है।

हे महाप्रज्ञ! आप वास्तव में अति महान हो, जो कि आपने देवों को भी दुर्लभ ऐसे विपुल भोगों को पाकर भी तत्काल उनसे विरक्त हो योग धारण कर लिया।

दिखते हैं जो जग-भोग रंग-रंगीले,
ऊपर मीठे अन्दर हैं जहरीले।

पुनि पुनि भोगों में जलना क्या?
बिन ज्ञान जिया तो जीना क्या?

हे नाथ! ये भोग हलाहल विष समान तत्क्षण प्राणों को हरने वाले हैं और भावि अनंत दुःखों के दाता हैं। अनंत भवों में ये महा हिंसाकारक भोग कितने बार नहीं भोगे, जो आज उन्हीं की पुनः इच्छा करते हो? जरा विचारो! आप तो बारह प्रकार के अव्रत के पूर्ण त्यागी हो, अहिंसा महाव्रत और ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारी हो। ऐसा, कौन मूर्ख है जो अमृत को छोड़कर विष की इच्छा करेगा? स्वर्ण को त्यागकर पत्थर को ग्रहण करेगा? ऐसा कौन अधम है जो स्वर्ग व मोक्ष को छोड़कर नरक जायेगा? तथा ऐसी जिनेश्वरी दीक्षा को छोड़कर इन्द्रियों के भोगों की कामना करेगा?''

- इत्यादि अनेक तरह के बोधप्रद वचनों से श्री आर्यिकाजी ने उन्हें संबोधित किया। पुनः आर्यिकाजी भवदेव मुनि की भोगों की भावना को निर्मूल करने हेतु अपने शरीर की दुर्दशा का वर्णन करती हैं - ''हे श्रमण! आपने जिस नागवसु के विषय में भोगों की वांछा युक्त भावों से प्रश्न किया, वह नागवसु आपके सामने मैं ही बैठी हूँ। आप देख लो! मैं आपके भोगने योग्य नहीं हूँ। मेरा यह शरीर कृमियों से पूर्ण भरा है। नव द्वारों से मल बह रहा है तथा महा अपवित्र मेरा यह शरीर है। मुख से अपवित्र लार बह रही है। सिर खरबूजे के समान हो गया है। वचन अस्पष्ट एवं लड़खड़ाते हुए निकलते हैं और स्वर भी भयानक निकलता है। दोनों कपोलों में गड्ढे पड़ गये हैं, आँखें कूप के समान भीतर ही भीतर घुस गई हैं। भुजाओं का माँस सूख गया है। सम्पूर्ण शरीर में मात्र चमड़ा और हड्डियाँ ही दिख रही हैं। अधिक क्या कहूँ? ऐसे कुत्सित शरीर को धरने वाली मैं आपके सामने बैठी हूँ। मैं सर्व कामेच्छा से रहित हूँ। श्राविका के व्रतों में मैं मेरु-समान अचल हूँ। हे धीर! यह बड़े ही शर्म की बात है और आपका बड़ा दुर्भाग्य है, जो आपने बारंबार मेरा स्मरण करके शल्य सहित इतना काल वृथा ही गँवाया। धिक्कार है! ऐसी विषयाभिलाषा को! धिक्कार है! धिक्कार है!!

हे मुने! वास्तव में इस स्त्री-शरीररूपी कुटी में कोई भी पदार्थ सुन्दर नहीं है। इसलिए **अपने मन को शीघ्र ही संसार, देह, भोगों से पूर्ण विरक्त करके, निःशल्य होकर स्वरूप में विश्रांति रूप निर्विकार चैतन्य का प्रतपन रूपी** तप का साधन करो। जिससे स्वर्ग व मोक्षसुख प्राप्त होते हैं। अनेक दुःखदायी सुखाभासों को देने वाले इन विषय-भोगों में इस जन्म को व्यर्थ क्यों खोना? क्या कभी अग्नि ईंधन से तृप्त हुई है? इस जीव ने अनंत भवों मे अनंत बार स्त्री आदि के अपार भोगों को भोगा है और कई बार जूठन के समान छोड़ा है। हे वीर! भोगों में अनुराग करने से आपको क्या मिलेगा? केवल दुःख ही दुःख मिलेगा।''

धर्मरत्न श्री आर्यिकाजी के धर्मरसपूर्ण वचनों को सुनकर भवदेव मुनि महाराज का मन स्त्री आदि के भोगों से पूर्णतः विरक्त हो गया। वे मन ही मन अति लज्जित हो अपने को धिक्कारने लगे। मुनिराज प्रतिबुद्ध होकर आर्यिकाजी की बारंबार प्रशंसा करने लगे - ''मैं भवदेव आपके वचनों के श्रवण से **अग्निपाक संयोग सुवर्ण के समान निर्मल** हो गया हूँ। हे आर्ये! आप धन्य हो। मुझ जैसे अधम के उद्धार में आप नौका समान हो। आपने मुझे मोह से भरे अगाध जलराशि में से एवं सैकड़ों आवर्तों व भ्रमरों में डूबते हुए संसार-सागर से बचा लिया है। आपका अनंत उपकार है।'' - इतना कहकर मुनि भवदेवजी उठकर वन की ओर विहार कर गये।

भवदेव मुनि द्वारा उत्कृष्ट मुनिचर्या का पालन

भवदेव मुनि महाराज जंगल की ओर चलते-चलते विचार करते जा रहे हैं कि -

अब हम सहज भये न रुलेंगे।
बहु विधि रास रचाये अबलौं, अब नहीं वेष धरेंगे ॥ टेक ॥
मोह महादुःख कारण जानो, इनको न लेश रखेंगे।
भोगादिक विषय विष जाने, इनको वमन करेंगे ॥ १ ॥
जग जो कहो सो कह लो भैया, चिंता नाहीं करेंगे।
मुनिपद धार रहें वन मांही, काहू से नाहीं डरेंगे ॥ २ ॥

अब हम आप सौं आपमें बसके, जग सौं मौन रहेंगे।
हम गुपचुप अब निज में निज लख, और कछु न चहेंगे॥ ३॥
निज आतम में मगन सु होकर, अष्ट कर्म को दहेंगे।
निज प्रभुता ही लखते-लखते, शाश्वत प्रभुता लहेंगे॥ ४॥
अपनी सहजता निरखी निरखी, निज दृग काहे न उमगेंगे।
ये जग छुटो, करम भी टूटे, सिद्धशिला पे रहेंगे॥ ५॥

शल्य रहित होकर मुनिराज ईर्यासमिति पूर्वक गमन करते हुए अपने गुरुवर के निकट वन में गये। जैसे - चिरकाल से समुद्र के आवर्तों में फँसा हुआ जहाज आवर्त से छूटकर अपने स्थान को पहुँचे। गुरुराज को नमस्कार करके भवदेव मुनि ने अपने योग्य स्थान में बैठकर गुरुवर के समक्ष अपना सम्पूर्ण वृत्तांत जो कुछ भी बीता था, सब कछ निश्छल भाव से कह दिया। तथा अन्त में कहा - "हे गुरुवर! मुझे शुद्ध कर अपने चरणों की शरण दीजिए।"

पूज्य गुरुवर ने भवदेव द्वारा निश्छल भाव से कहे गये दोषों को जानकर उसके दंडस्वरूप भवदेव की दीक्षा छेदकर पुन: दीक्षा देकर संयम धारण कराया। दोषों का प्रायश्चित भवदेव मुनिराज ने सहर्ष स्वीकार किया। वे संघस्थ सभी साधुओं को नमस्कार करके, नि:शल्य हो, परमपवित्र शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके कर्मों को जीतनेवाले भावलिंगी संत हो विचारने लगे और विचरने लगे-

भवभोगपराङ्मुख हे यते पदमिदं भवहेतु विनाशनम्।
भज निजात्मनिमग्नमते पुनस्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया॥

निज आत्मा में लीन बुद्धिवाले तथा भव और भोग से पराङ्मुख हुए हे यति! तुम भवहेतु का विनाश करनेवाले ऐसे इस (ध्रुव) पद को भजो! अध्रुव वस्तु की चिन्ता से तुम्हें क्या प्रयोजन है?

समयसारमनाकुलमच्युतं जननमृत्युरुजादिविवर्जितम्।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयं समरसेन सदा परिपूजये।

जो अनाकुल है, अच्युत है, जन्म-मृत्यु-रोगादि रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसार को मैं समरस (समताभाव) द्वारा सदा पूजता हूँ।

आ हा हा.....! अब भवदेव मुनिराज निरंतर अपने समयसार स्वरूप को अर्थात् निजात्मा को भजने लगे। ज्ञान-ध्यान एवं उग्र-उग्र तपों में संलग्न हो अपने बड़े गुरुजनों के समान तप करने लगे।

शुभ-अशुभ से जो रोककर, निज आत्म को आत्मा ही से।
दर्शन अवरु ज्ञान हि ठहर, परद्रव्य इच्छा परिहरे॥

जो सर्वसंग विमुक्त ध्यावे, आत्म से आत्मा हीं को।
नहिं कर्म अरु नोकर्म चेतक, चेतता एकत्व को॥

वह आत्म ध्याता, ज्ञान-दर्शनमय अनन्यमयी हुआ।
बस अल्पकाल जु कर्म से, परिमोक्ष पावे आत्म का॥

निजस्वरूपस्थ श्री भवदेव मुनिराज को अब एकमात्र मोक्ष की ही भावना शेष रह गई है और सभी प्रकार की इच्छाएँ विलय को प्राप्त हो गई हैं। वे अब क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, शत्रु, मित्र, स्वर्ण, पाषाण, हानि, लाभ, निन्दा, प्रशंसा आदि सभी में समभाव के धारी हो गये।

निज स्वरूप की आराधना करते-करते अब जीवन के कुछ ही क्षण शेष रहे थे कि महान कुशल बुद्धि के धारक भावदेव और भवदेव दोनों तपोधनों ने उस शेष समय में आत्मतल्लीनतारूप परम समाधिमरण को स्वीकार कर प्रतिमायोग धारण पर विपुलाचल पर्वत कर पंडितमरण द्वारा इस नश्वर काया का त्याग कर सानत्कुमार नामक तीसरे स्वर्ग में सात सागर की आयुवाली देव पर्याय को प्राप्त किया। अहो! ऐसी आत्माराधनापूर्वक पंडितमरण करने वाले युगल तपोधनों की जय हो!! जय हो!!!

भावदेव-भवदेव का स्वर्गारोहण

अरे भवितव्य! ज्ञायकस्वभाव के आराधकों को स्वर्गसुख की वांछा न होने पर भी पुरुषार्थ की कमजोरी से अर्थात् कषायकण जीवित रहने से उस प्रशस्त राग रूप अंगारों के फलस्वरूप स्वर्गसुखों में जलना पड़ता है।

वे युगलदेव सुन्दर एवं सुगंधित तन के धारी हैं। उनके कंठ में निर्मल मणियों से जड़ित सुन्दर मालायें शोभ रही हैं। उत्तमोत्तम

रत्न उनके मस्तक पर सूर्य के प्रकाशसम प्रभा को बिखेर रहे हैं। उनके सर्व अंग आभूषणों से शोभित हो रहे हैं। वे अगणित देवांगनाओं के साथ कभी नंदनवन में तो कभी पांडुकवन में क्रीड़ा करते, कभी कल्पवृक्षों की शोभा निहारते तो कभी सुगंधित पवन की बहारों में किलोलें करते थे। इस प्रकार उनकी सात सागर की आयु सात घड़ी के समान बीत गई। वहाँ के भोग विलास में मस्त उन्हें कभी जिनगुण या आत्मध्यान याद ही नहीं आया।

अरे, रे! अब..... अब क्या? स्वर्ग से वियोग होने का समय आ गया। स्वर्ग-सुखों को छूटता जान अन्दर में मानसिक पीड़ा से खेद-खिन्न होने से उनकी मालायें (यद्यपि मणि रत्नों की होती हैं, अतः उनकी ज्योति मंद नहीं पड़ती, न शरीर कांतिहीन होता है; फिर भी) उन्हें मुरझाई हुई-सी दिखने लगीं। देह कांतिहीन दिखने लगा। स्वर्ग की लक्ष्मी के वियोग के भय से वे देव शोक-मग्न बैठे हैं। अरे! यह पुण्यरूपी छत्र अब मेरे पास से जाता रहेगा। अरे रे! भोगों की दीनता के आधीन देवों का दुःख! मानो सात सागर के दैवी सुखों ने उनसे वैर धारण कर लिया हो।

उन दोनों देवों की इतनी दुखद अवस्था देख उनके संबंधी देवों ने उनका शोक दूर करने हेतु उन्हें सुखप्रद वचनों द्वारा संबोधित किया - "हे धीर! धैर्य धारण करो! सोच करने से क्या लाभ? संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिसे जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक आदि नहीं आते हों अर्थात् सभी इन दोषों से युक्त होने के कारण दुःखी ही हैं। यह भुवनविदित ही है कि आयु पूर्ण होने पर वर्तमान पर्याय का त्याग होता ही है। इस चतुर्गति के गमनागमन में कोई एक समय न बढ़ा सकता है, न घटा सकता है, न इसे रोक सकता है; क्योंकि प्रकाश सदा अपने प्रतिपक्षी सहित होता है। पुण्य-पाप, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, संयोग-वियोग आदि ये कोई भी निरपेक्ष नहीं हैं। इसलिए इस देव पर्याय को छोड़ते समय तुम्हें दुखित होना योग्य नहीं है।

पुण्य के क्षय होने पर अरतिभाव हो जाता है और पाप-आताप के तपने से केवल शरीर ही कांतिहीन नहीं दिखता, बल्कि शरीर को शोभित करने वाले सभी वस्त्राभूषण निःतेज दिखने लगते हैं।

पहले हृदय कंपित होता है, पीछे कल्पवृक्ष कंपते दीखते हैं। मरण निकट आने पर देवों को जैसा दुःख होता है, वैसा दुःख तो नारकियों को भी नहीं होता। जिसप्रकार सूर्य उदित होता है तो वह अस्त भी होता है। नित्य रहकर प्रतिसमय बदलना प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है और फिर धन-संपदा तो स्वभाव से ही चंचल है, वह तो पुण्य की दासी है। पुण्य के अभाव में एक समय भी नहीं टिकती। इसलिए हे बुद्धिमान! आप आर्य हो, सज्जन हो, इस समय आपको कुगति के कारणभूत शोक-संताप को छोड़कर धर्माराधना में अपने चित्त को लगाना ही श्रेष्ठ होगा।"

इसप्रकार समझाये जाने पर दोनों ने परम हितकारी धर्म में अपने चित्त को लगाया। ***अहो धर्म! अहो आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद! तुम्हारे वियोग में मैं दुःखी हो गया था।***

आराधनापूर्वक देव-पर्याय का विलय

उन दोनों देवों ने अपने अवधिज्ञान से यह जान लिया कि "हम दोनों पूर्वभव में आत्माराधक संत थे, आराधना में कमी रहने से हमें स्वर्गलोक में आना पड़ा। अन्दर में पूर्वभववत् ही रत्नत्रय की प्राप्ति हेतु इच्छानिरोध रूप तप को धारण करने की भावना होने पर भी अरे रे! यह इस देवपर्यायगत स्वभाव के कारण उसे धारण नहीं कर सकते। इन्द्रिय-विषयों पर विजय प्राप्त कर व्रत-संयम धारण करने में हम असमर्थ हैं। अब देवपर्याय में संभवित देवदर्शन आदि कार्यों को करना ही उचित होगा।"

इसप्रकार विचार कर वे दोनों देव जिन-मंदिर में गये और भावों की शुद्धिपूर्वक जिनेन्द्रदेव के दर्शन, पूजन एवं भक्ति आदि कार्य करने लगे। आयु की अंतिम बेला में दोनों देव कल्पवृक्ष के नीचे शांतभावों से कायोत्सर्ग मुद्रा धारण कर आत्मध्यान करने लगे। निर्भय हो णमोकार मंत्र का पावनकारी जप करते हुए जड़ प्राणों का त्याग किया। उनकी पौद्गलिक देह कपूर के समान क्षण भर में विलीन हो गई।

परमपवित्र वीतरागी धर्म की आराधना करनेवाले प्राणियों के ज्ञाननेत्र पूर्वकृत अपराध के फल में कभी बंद भी हो जाते हैं, मगर अन्य

आराधकों के द्वारा जरा-सा संबोधन प्राप्त होते ही तत्काल वे अपने ज्ञान-नेत्रों को खोलकर सावधान हो जाया करते हैं।

भावदेव के जीव का सागरचन्द्र के रूप में अवतरण

जाम्बू वृक्षों की अधिकता से सार्थक नामधारी जम्बूद्वीप के महामेरु पर्वत के पूर्वविदेह क्षेत्र में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल परिवर्तन के अभाव से सदा चतुर्थकाल ही वर्तता है। वहाँ सदा ही तीर्थंकरों का जन्म होता रहता है, उन महापुरुषों के चरण-कमलों के स्पर्श से वह सदा पवित्र रहता है। यह भूमि सदा पुण्यवती होने से चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि महापुरुषों को भी जन्म देती रहती है और सदा धन-धान्य, फल-फूलों से सम्पन्न रहती है।

उसमें एक पुष्कलावती नाम का देश है। उसकी भूमि भी सदा हरी-भरी होने से सदा सौभाग्यवती रहती है। उसके अन्तर्गत ग्राम निकटवर्ती होने से वहाँ के मनुष्य तो आसानी से अन्य ग्रामों में आ-जा सकते ही हैं, परन्तु वहाँ के थलचर पक्षी भी सुगमता से ग्रामान्तर को आ-जा सकते हैं। वहाँ के सरोवर कमलों से शोभित हैं और झीलों पर भी हंसों की मधुर ध्वनियाँ गुंजायमान रहती हैं। वह क्षेत्र सभी को सदा सुखप्रद है, इत्यादि अनेक प्रकार से वह देश सम्पन्न है। मानो तीर्थंकरों के दर्शनार्थ स्वर्गलोक ही आया हो।

उसकी पुंडरीकिणी नगरी सदा साधु-संतों से पावन है। पात्र जीवों को वीतरागता के लिये आह्वान करनेवाले विशाल गगनचुंबी जिनालय हैं। उसमें मणिरत्नों की अगणित जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। रत्नत्रय की उत्पत्ति के लिए मानो पुंडरीकिणी नगरी की भूमि रत्नगर्भा है। वहाँ का राजा वज्रदन्त था, उसके केवल दाँत ही वज्र के नहीं, बल्कि पूरा शरीर ही वज्रमयी था अर्थात् वह वज्रवृषभ नाराच संहनन का धारी था। उसकी अनेक गुणसम्पन्न यशोधना नाम की पटरानी की कुक्षी से भावदेव का जीव सानत्कुमार स्वर्ग से आकर पुत्र हुआ। उसके जन्म से बन्धुजनों को अपार आनन्द की प्राप्ति हुई। उन्होंने उस बालक का नाम **सागरचन्द्र** रखा। वह चन्द्रकलासम प्रतिसमय वृद्धिंगत होता जाता था।

भवदेव के जीव का शिवकुमार के रूप में अवतरण

पूर्वविदेह के उसी पुष्कलावती देश में एक वीतशोकापुरी नाम का नगर भी है, जिसकी दीवालें चंद्रकांत मणियों से निर्मित होने से वहाँ की महिलायें उनमें अपना प्रतिबिम्ब देखा करती थी। वहाँ के लतागृह अत्यंत रमणीक हैं। वहाँ के दम्पति लोग उपवन की गलियों में सैर करते हुए सरोवरों के तटों पर जलक्रीड़ा किया करते थे।

वहाँ का चक्रवर्ती राजा महापद्म महा बलवान था। जिसका प्रताप एवं कीर्ति तीनों जगत में फैली हुई थी। वह १. महापद्म, २. पद्म, ३. शंख, ४. मकर, ५. कच्छप, ६. मुकुंद, ७. कुंद, ८. नील और ९. स्वर्ण - इन नव निधियों का एवं १. सेनापति, २. गृहपति, ३. पुरोहित, ४. गज, ५. घोड़ा, ६. सूत्रधार, ७. स्त्री, ८. चक्र, ९. छत्र, १०. चमर, ११. मणि, १२. कामिनी, १३. खड्ग और १४. दंड - इन चौदह रत्नों का स्वामी था।

छह खण्ड में जिसका एक छत्र राज्य प्रवर्त रहा था। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उसकी सेवा करते थे। वह छियानवे हजार रानियों का वल्लभ था। उसकी एक वनमाला नाम की रानी थी, उसकी कुक्षी से भवदेव के जीव ने सानत्कुमार स्वर्ग से आकर शुभ दिन और शुभ नक्षत्र में जन्म लिया। चक्रवर्ती एवं उनके बंधुवर्ग ने उसका नामकरण संस्कार कर **शिवकुमार** नाम रखा। वह बालक 'यथा नाम तथा गुण' सम्पन्न था। वह बालक शिशुवय में माता-पिता आदि अनेक जनों की गोद में केलि करता हुआ चन्द्रकलाओं के समान वृद्धि को प्राप्त होने लगा। अहो! यत्र, तत्र, सर्वत्र पवित्रता के साथ पुण्य का संगम भी जगत को आश्चर्यचकित कर देता है।

शिवकुमार का विद्याभ्यास, विवाह व गृहस्थावस्था

परिवारजनों को आनंदित करते हुए शिवकुमार अब आठ वर्ष के हो गये। वे व्याकरण साहित्यादि शास्त्रों को अर्थ सहित पढ़ने लगे। उन्होंने शस्त्रविद्या, संगीत, नाटक आदि अनेक विद्याओं में कुशलता

प्राप्त कर ली। पृथ्वी की रक्षा करने में समर्थ वीर गुणधारी हो गये। पिता ने पुत्र की यौवन अवस्था देख सुन्दर एवं योग्य पाँच सौ कन्याओं के साथ बहुत ही हर्षोल्लास के साथ उनका विवाह कर दिया। सभी विद्याओं में निपुण होने के कारण राजकुमार योद्धाओं के साथ, मित्रों के साथ, वैद्यों के साथ और कभी ज्योतिषियों आदि के साथ नाना प्रकार के कार्यों को करते थे। कभी पवित्र जिन-मंदिरों में जाकर जिनेन्द्र पूजन-भक्ति आदि करते, कभी वीतरागी गुरुओं के पास जाकर आत्मिक सुखदायक अध्यात्म अमृत का पान करते थे। कभी वनों में जाकर आत्म-साधना का अभ्यास करते थे। कभी रानियों को धार्मिक चर्चा द्वारा जिनधर्म का मर्म समझाते थे। इत्यादि रूप में सागरचन्द्र का जीवन बीत रहा था।

सागरचंद्र का वैराग्य

उधर पुंडरीकिणी नगरी में भावदेव का जीव सागरचन्द्र भी नानाप्रकार के भोगों को भोगते हुए भी आत्माराधना करता था। एक दिन पुंडरीकिणी नगरी के वन में तीन गुप्ति और तीन ज्ञान के धारक श्री त्रिगुप्ति नाम के मुनिराज पधारे। मुनिराज के आगमन के समाचार नगर में शीघ्र ही फैल गये, समाचार सुनते ही नगरवासियों के साथ सागरचन्द्र भी मुनिवरों की वंदना हेतु वन में पधारे। सभी नगरवासी एवं सागरचन्द्र भी मुनिराज की वंदना करके उनके निकट बैठ गये। सागरचन्द्र मुनिराज की शांत-प्रशांत वीतरागी मुखमुद्रा को एकटक देख रहा था। योगीश्वर द्वारा अतीन्द्रिय आनंददायक धर्मामृत का पान कर, अन्दर ही अन्दर उसका मन मुनिवरों के समान जीवन जीने को प्रेरित करने लगा। तभी अपने पूर्वभवों को जानने की जिज्ञासा होने पर मुनिराज से नम्रतापूर्वक अपने पूर्वभवों के संबंध में उन्होंने पूछा ?

अवधिज्ञान से सुभोभित श्री मुनिवर ने उनका सम्पूर्ण वृत्तांत कह सुनाया, उसे सुन सागरचन्द्र का मन संसार की असारता को जान उदासीन हो गया। वह विचारने लगा - "इस संसार में मैं अपने ज्ञान-आनंदादि प्राणों को भूल, जड़ प्राणों को धारण कर जन्म-मरण, जरा-रोग आदि के दुःख भोगता आ रहा हूँ। ये इन्द्रिय-भोग केले के स्तंभ के समान निःसार हैं और संसार-बेल के मूलभूत हैं। एकमात्र

परम पवित्र वीतरागी जिनधर्म ही सारभूत है, जिसकी प्राप्ति होते ही इन्द्रियों का दमन, प्राणियों की रक्षा और कषायों का निग्रह सहज ही हो जाता है। इसलिए आत्मिक अव्याबाध सुख के लिए मुझे सदा इस जिनधर्म की ही उपासना करना चाहिए।''

शास्त्रों मे कई प्रसंगों पर देखते हैं कि व्यक्ति वैराग्य धारण करने के पहले मुनिवर से पूर्वभव पूछते हैं, क्योंकि उसे जानकर एक तो आत्मा का अनादि-निधन स्वरूप लक्ष में आता है और संयोगों की क्षणभंगुरता और आस्रवों की अशुचिता का यथार्थ बोध होते ही वह संसार से वैराग्य का कारण बन जाता है।

कुशल प्रज्ञा के धनी सागरचन्द्र का मन अविलंब प्रचुर स्वसंवेदन को ललक उठा। उसने शीघ्र ही श्री त्रिगुप्तिसागर मुनिराज से प्रार्थना की - ''हे प्रभो! मेरा मन संसार-परिभ्रमण के दु:खों से छूटना चाहता है, मैंने इस संसार में आपके चरणों की शरण बिना वचनातीत दु:ख भोगे हैं। प्रभु! अब मैं भी आप-समान आत्मिक आनंद के अमृत का पान करना चाहता हूँ, इसलिए हे गुरुवर! हे यतिवर! आप मुझे जैनेश्वरी दीक्षा देकर अतीन्द्रिय आनंद का दान दीजिए।''

ज्ञान-वैराग्य की मूर्ति मुनिवर ने सागरचन्द्र को पात्र जानकर शाश्वत अव्याबाध सुख की दात्री जिनदीक्षा देकर अनुगृहीत किया। श्री सागरचन्द्रजी अब गुरुपद पंकज के भ्रमर बन अतीन्द्रिय आनन्द में लीन हो समता-रस का पान करने लगे।

कंचन काँच बराबर जिनके, ज्यों रिपु त्यों हितकारी।
महल मसान, मरण अरु जीवन, सम गरिमा अरु गारी॥

चौबीस प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर केशों का लोंच कर, द्वादश भावनाओं को भाते हुए, बारह प्रकार के तपों को तपने लगे। उनकी स्वरूप-लीनता को देख उपसर्ग-परीषह भी नि:सत्व हो पलायमान हो गये। स्वरूप-साधना में मेरु समान अकंप मुनिवर को चारण-ऋद्धि प्राप्त हो गई तथा अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के बल से द्वादशांग के ज्ञाता हो श्रुतकेवली बन गये। श्री सागरचन्द्र श्रुतकेवली धर्मामृत की वर्षा करते हुए तथा ईर्यापथ से गमन करते हुए एक दिन वीतशोकापुरी के वन में पधारे।

आहार-चर्या का समय अवलोक कर महाराजश्री पारणा हेतु वीतशोकापुरी में पधारे। राजमहल के निकट ही किसी सेठजी का घर था। वे सेठजी धर्मानुरागी थे, धर्माचरण में परायण थे। वे अपने द्वार पर द्वारापेक्षण के लिये अनेक साधर्मियों सहित खड़े थे, उनके नेत्र धर्मलाभ की भावना से श्री मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। इतने में ही दूर-दूर से ही श्री मुनिराज को देख उनका मन-मयूर आनंदित हो गया। उन्होंने नवधा भक्ति से मुनिराज का पडगाहन कर संयम के हेतुभूत शुद्ध प्रासुक आहारदान दिया। नवधा भक्ति पूर्वक दिये गए शुद्ध आहार को मुनिवर ने शांतिपूर्वक ग्रहण किया।

चारणऋद्धि के धारी मुनिराज के आहारदान के माहात्म्य से सेठ के आंगन में रत्नवृष्टि हुई। उसे देख दर्शकजन परस्पर में कहने लगे - "ये क्या हुआ, ये क्या हुआ?"

सभी आश्चर्यचकित हो गये, दर्शकजनों की आश्चर्यमयी बातें शिवकुमार के महल में सुनाई पड़ीं, वह महल के ऊपर आकर आनंद से कौतूहलपूर्वक देखने लगा। वहाँ से ही मुनिवर के दर्शन पा चित्त में अति ही आश्चर्य हुआ, उसे ऐसा लगा कि मैंने कभी इन मुनिराज को देखा है। पूर्वभव के संस्कारवश उसके मन में स्नेह उमड़ रहा था, मन ही मन अद्‌भुत आह्लाद उछल रहा था, मगर उसका कारण अज्ञात था। उस संशय का निवारण करने हेतु वह मुनिराज के निकट जाकर प्रश्न पूछने का विचार कर ही रहा था कि उसे ही पूर्वभव का स्मरण हो आया। जिससे उसे ज्ञात हुआ - "मुनिराज हमारे पूर्वभव के बड़े भ्राता ही हैं। आप पहले भी ऐसे ही महान तपस्वी मुनिराज थे। आपने ही मेरे ऊपर निःकारण करुणा करके मुझे सन्मार्ग में लगाया था। उस धर्म के प्रताप से ही मैं स्वर्ग में एवं चक्रवर्ती आदि के यहाँ पुण्योदय से सुख पाता आ रहा हूँ। ये ही मेरे सच्चे भाई हैं, जो इहलोक और परलोक को सुधारने वाले हैं।"

सागरचन्द्र मुनिराज के साथ शिवकुमार का मिलन

इत्यादि सभी वृत्तांत जानकर वह शीघ्र ही श्री मुनिराज के निकट आया, उन्हें देखते ही उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी और प्रेम के उत्साह के वेग से वह मूर्च्छित हो गया। शिवकुमार की मूर्छा के समाचार पाकर चक्रवर्ती शीघ्र ही वहाँ आया, पुत्र को मूर्च्छित देख मोहवश अश्रु बहाने लगा - "हे पुत्र! तूने अपनी यह क्या दशा कर ली है? शीघ्र इसका कारण बताओ? क्या किसी ने तुम्हें कुछ कठोर वचन कहे हैं? क्या तुम्हारी किसी आकांक्षा की पूर्ति नहीं हुई है? राज्य में सर्व प्रकार की भोग, उपभोग की सामग्री उपलब्ध होने पर भी कुमार को मूर्च्छा आई है, कुमार का हृदय व्यथित हुआ है तो अवश्य ही किसी दुष्ट ने इसके कोमल हृदय को प्रताड़ित किया होगा? कुछ पता नहीं आखिर हुआ क्या है?"

आखिर चक्रवर्ती इससे अधिक सोच भी क्या सकता है? उसे तो राज-पाट सुख-साधन एवं विषयों की पूर्ति की कमी ही मूर्च्छा का कारण जान पड़ती है। इसके अलावा आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद का विरह भी मूर्च्छा का कारण हो सकता है - इसका तो उसे विचार भी नहीं आया, चक्रवर्ती को तो उसके अनुरूप ही विचार आयेंगे। कुमार की मूर्च्छा के समाचार सारे नगर में फैल जाने से सारे नगरवासी आ पहुँचे और कुमार को मूर्च्छित देख व्याकुल होने लगे, दु:सह शोक पृथ्वी पर छा गया। सभी ने अन्न-जल का त्याग कर दिया, सो ठीक ही है, पुण्यवान पदार्थ को कोई हानि पहुँचती है तो सभी को उद्वेग हो जाता है। नगर के वैद्यों आदि ने नाना प्रकार के उपचार बतलाये। कुमार के बदन पर चंदन लगाया, शीतल जल छिड़का गया।

कुमार की मूर्च्छा दूर होते ही उसके मुख से ऐसे वचन निकलने लगे - "हे जिने, हे मुने, हे मुने! आप कहाँ गये?"

वह अपलक चारों ओर मुनिराज को निहारने लगा, वहाँ मुनिराज को न पाकर अत्यंत आतुर होकर उस राजपथ की ओर दौड़ने लगा, जहाँ से कुछ समय पूर्व मुनिराज का गमन हुआ था। समस्त इष्टजन कुमार की ऐसी दशा को देखकर आकुलित होकर कुमार को घेरकर

उसे समझाते हुए पूछने लगे - "क्या कारण है कुमार?"

तब कुमार पिता के मोह और वातावरण की गंभीरता को देखकर मौन ही रहे। इष्टजनों के अधिक पूछने पर कुमार ने अपने अनन्य मित्र मंत्री-पुत्र दृढ़रथ को एकांत में बुलाकर अपने मन के सभी भाव अर्थात् अपने जाति-स्मरण से पूर्वभवों का सम्पूर्ण वृत्तांत सुना दिया। सो योग्य ही है, क्योंकि -

चिंतागूढ़मदार्तानां मित्रं स्यात्यमरौषधः।
यतो युक्तायुक्तं वा सर्वं तत्र निवेद्यते॥

चिंतारूपी गूढ़ रोग से दुःखी जीवों के लिए मित्र बड़ी भारी औषधि होती है। मित्र के पास योग्य-अयोग्य सभी कुछ कह दिया जाता है।

शिवकुमार का वैराग्य

शिवकुमार ने मित्र से कहा - "हे मित्र! मुझे यह राज-पाट श्मशान के समान लगता है, ये सुन्दर पाँच शतक रानियों के भोग काले नाग समान भासित होते हैं। यह सुन्दर काया श्मशान की राख तुल्य दिखती है। ये माता-पिता मोह के जाल जैसे लगते हैं। हे मित्र! मैं तो सादि अनंत अपरिमित अतीन्द्रिय सुख की दात्री जैनेश्वरी दीक्षा लेना चाहता हूँ और मैं माता-पिता की प्राणों से भी प्रिय संतान हूँ, इसलिए ये माता-पिता मुझे वीतरागी पथ पर जाने से रोकेंगे, मेरे ऊपर प्रतिबंध लगायेंगे, परन्तु अब मैं एक क्षण भी उनमें फँसना नहीं चाहता। मुझे तो सिद्ध समान सुख अभी चाहिए। उन प्रतिबंध के कारणों को जानकर ही मुझे मूर्च्छा आ गई थी।"

शिवकुमार के भावों को जानकर मित्र भी कुछ समय तो हतप्रभ-सा रह गया - " अरे! यह राजकुमार है। इसके कोमल तन ने कभी भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि की बाधायें देखी ही नहीं; कभी कठोर वचन सुने ही नहीं। यह वन-जंगल में बाघ-सिंह आदि भयंकर क्रूर पशुओं की भय उत्पादक आवाज, उनके द्वारा किये जाने वाले घोर-अतिघोर उपसर्ग-परीषहों को कैसे सहेगा? जिन-दीक्षा तो महान

कठोर कार्य है, उसे लेने के लिये शिवकुमार आज ही तैयार है - यह समाचार मै चक्रवर्ती को कैसे कहूँगा? इस समाचार को सुनते ही चक्रवर्ती की क्या हालत होगी? हाय, कुछ अनिष्ट न हो जाय?''

इसतरह अनेक तरह के विचारों में मग्न दृढ़रथ चिंतातुर बैठा था कि अचानक चक्रवर्ती की नजर उस पर पड़ी। उसे उदास देखते ही चक्रवर्ती सोचने लगा - ''अवश्य ही कोई गूढ़ कारण है।''

चक्रवर्ती - ''हे सुत-वल्लभ! ऐसा कौन-सा कारण है, जो तुम इतने उदास दिख रहे हो? तुम अपनी उदासी का कारण शीघ्र बताओ?''

दृढ़रथ - ''हे तात! शिवकुमार संसार के दु:खदायक भोगों से उदास हो गया है। वह निकट भव्य है, शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। वह राज्य-सम्पदा को सड़े हुए तृण के समान गिनता है। धन-वैभव, महल, रानियाँ, पुत्र, जीवन-मरण सबके प्रति अत्यन्त विरक्त हो गया है। वह आत्मस्वरूप का ज्ञाता है, तत्वज्ञानी है, श्रेष्ठ विद्वान है। वह जैन साधु के समान सर्व त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य का जानकार है। उसका मन आत्म-साधना में मेरु के समान अकंप हो गया है और अपना कार्य करने में अतिदृढ़ है, जगत में अब ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो उसे डिगा सके। उसे जैन मुनि के दर्शनमात्र से पूर्वजन्म के संस्कार उदित हो जाने से वैराग्य हो गया है। वह समस्त जीवों के प्रति राग-विरोध को त्यागकर समता स्वभावी होकर परमहित-दायिनी जिन-दीक्षा लेना चाहता है।''

चक्रवर्ती वज्राघात के समान इन कठोर शब्दों को सुनते ही शोक के सागर में डूब गया। उसका मोहित हृदय अगणित शस्त्रों से मानों वेध दिया गया हो। आँखों से सावन-भादों की झड़ी लग गई। वह दीन भाव से विलाप करने लगा - ''मैं भाग्यहीन हूँ। अरे, रे! मैं कुछ और ही सोच रहा था, परन्तु दैवयोग से कुछ और ही हो गया। जैसे कमल के मध्य सुगंध की इच्छा से बैठा हुआ भ्रमर हाथी द्वारा कमल मुख में लेने पर प्राण खो बैठता है। इसीप्रकार हे पुत्र! तुझे ऐसी बुद्धि किसने दी? तुझे ऐसा विचार किस कारण से आया? तेरा यह सुकुमार शरीर इतना कठोर मुनिधर्म कैसे पाल सकेगा? यह कार्य असंभव है, कभी नहीं हो सकता।

इसलिए हे पुत्र! इस साम्राज्य को ग्रहण करो, जिसको सर्व राजा सदा नमन करते हैं। देवों को भी दुर्लभ महा भोगों को तुम भोगो। स्वयं सुखी रहो और सभी को सुखी रखो।''

पुत्र - ''हे तात! ये राज्य-सम्पदा, ये महल, ये रानियाँ, ये दुःखदायक पराधीन भोग, ये माँस-मज्जा, हाड़-रुधिरादि से युक्त अशुचि देह, इत्यादि सभी को मैंने अनादिकाल से अपने अकृत्रिम चेतन प्रभु की प्रभुता को भूलकर अनंत बार भोगा है, परन्तु कहीं सुख की झलक भी नहीं मिली। नरक, निगोद, पशु की पर्यायों में मैंने वचनातीत दुःख पाये हैं। देवों में गया तो मानसिक पीड़ा में झुलसता रहा, मनुष्य पर्याय में आया तो कभी गर्भ में ही मर गया, कभी जन्म के घोर दुःखों को सहते हुए बालपने में ही मर गया, कभी दीन-दरिद्री हुआ तो भूख, प्यास, रोगादि के दुःख सहे, कभी जल गया, कभी हाथ-पैर टूट गये तो कभी रोग से गल गये, कभी सड़ गये और कभी वैरियों द्वारा काटा गया, मारा गया तो कभी विषयरूपी नागिन से डसा गया, इस चतुर्गति में मुझे कहीं सुख दिखा ही नहीं। इसलिए मेरा दृढ़ निर्णय है कि मैं संसार-समुद्र से पार उतारनेवाली जिनदीक्षा ग्रहण करूँगा ही।''

चक्रवर्ती - ''हे पुत्र! तुम्हारा कर्त्तव्य माता-पिता को सुख-शांति प्रदान करना है, राज्य का भार संभालकर पिता को राज्य की चिंता से मुक्त कर आत्म-साधना का सुअवसर देना है, ये पाँच सौ पद्मिनी-जैसी बालायें तेरे बिना कैसे जीवन बितायेंगी? अरे! इस राज्य में कोई दुःखी नहीं है और शोक-संताप तो कहीं का दूर-दूर भाग गया है, परंतु तेरे बिना ये राज्य श्मशान बन जायेगा। ये रानियाँ, ये प्रजा आदि शोक के समुद्र में डूबकर जीवन को भाररूप अनुभव करने लगेंगी। क्या तुम्हें यह सब-कुछ उचित लगता है?''

पुत्र - ''हे तात! राज्य के राग में जलना तो किसी को भी उचित नहीं है। मेरा कर्तव्य मात-तात-परिजन-पुरजन - सभी को वीतरागी मार्ग प्रशस्त करना है। रत्नत्रय स्वयं प्राप्त करना और सभी को उसी मार्ग में लगाना है। पिताजी आगम में आता है कि **राजेश्वरी सो नरकेश्वरी** इसलिए राज-पाट त्यागकर मोक्ष की राह ग्रहण करना ही श्रेष्ठ है। यह वीतरागी धर्म ही महान है, उत्तम

है। केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में जाकर सादि-अनंत काल तक आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद को भोगना प्राणिमात्र का कर्तव्य है। ऐसे वीतरागी मार्ग को रानियाँ, प्रजा एवं सभी जन अपनाकर धर्ममय जीवन बितावें; इसमें दु:ख या शोक की क्या बात है? ये राज्य, लक्ष्मी तथा भोग भोगने लायक नहीं हैं। महापुरुष इन्हें उच्छिष्ट जानकर त्याग गये हैं। ये सभी किंपाकफलवत् हैं। इसलिए हे तात! आप मुझे आज्ञा दीजिए, मैं शीघ्र ही जिनदीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ।''

इस तरह पुत्र के बोधप्रद वचनों को सुनकर पुत्र के मन की बात को बुद्धिमान चक्रवर्ती अच्छी तरह जान गये कि यह पुत्र संसार से भयभीत है, उदास है, वैराग्य के रंग में रँगा होने से आत्म-साधना के लिए निश्चित ही तप को ग्रहण कर मोक्ष को वरेगा। अब मुझे भी मोह में फँसकर उसके हित में बाधक बनना योग्य नहीं है।

अत: उन्होंने कहा - ''हे सौम्य! जैसे तुम प्राणियों पर दया कर रहे हो, वैसे मुझ पर भी दया करो। तुम तप अंगीकार करके अपने घर में ही एकांत स्थान में रहकर शक्ति-अनुसार तप करो, जिससे तुम्हारी साधना भी होती रहे और हम तुम्हें देखते भी रहें। जब मन में राग-द्वेष नहीं, तब वन या घर सभी समान हैं।''

शिवकुमार घर में वैरागी

पिताजी के मर्मान्तक वचनों को सुनकर शिवकुमार दुविधा में पड़कर विचारने लगे - ''अरे! कैसी हे ये विडम्बना! अति महादुर्लभ वैराग्य पाकर भी आत्माभ्यास के बिना एवं कषायोदय की तीव्रता के वश मेरा मन पिता के वचनों में अटक रहा है। भले ही कुछ समय को राग तीव्र हो तो हो ले, परन्तु अंतत: तो मैं सकल संयम ही धारण कर आत्महित करूँगा।''

ऐसा विचार कर शिवकुमार मधुर वचनो से बोले - ''हे तात! आपकी इच्छानुसार ही मैं आत्माभ्यास करूँगा।''

पिताजी को धीरज बँधाने के बाद कुमार अपनी भावना को व्यक्त करते हुए बोले, - ''हे पिताजी! अभी मेरा मन पूज्य मुनिवर

के दर्शन करना चाहता है।"

पुत्र की भावना का आदर करते हुए चक्रवर्ती ने तत्काल ही मंत्री को बुलाकर आज्ञा की - "हे मंत्री! मुनिवरों के दर्शनार्थ वन में चलने की सोत्सव तैयारी की जावे।"

मंत्री ने शीघ्र ही नगर में भेरी बजवा दी कि वन में मुनिराजों के दर्शनार्थ चलना है। भेरीनाद सुनते ही सभी नर-नारी अपने हाथों में अष्ट द्रव्य की थाली लेकर आ गये। चक्रवर्ती ने अपने पुत्र सहित प्रजाजनों के साथ मुनिराज के दर्शनार्थ वन की ओर प्रस्थान किया।

जैसे-जैसे मुनिराज के निकट पहुँच रहे थे, वैसे-वैसे ही शिवकुमार की गुरुवर दर्शन की भावना बढ़ती जा रही थी और संसार से उदासीनता भी बढ़ती जा रही थी। उनके मन और नेत्र गुरुवर के शीघ्र दर्शन पाने को लालायित थे। सभी जनों के साथ शिवकुमार वन को जा रहे थे, परन्तु उनके हृदय में मुनि-मुद्रा समाई हुई थी। धुन ही धुन में वे मुनिराज के समीप पहुँच गये।

शिवकुमार मुनिराज को देखते ही भक्ति-भीने चित्र के समान हाथ जोड़कर गुरुवरों को नमस्कार करके उनकी स्तुति करने लगे। चक्रवर्ती एवं सभी प्रजाजन भी मुनिवर को नमस्कार करके शिवकुमार के साथ ही गुरु-स्तुति करने लगे। स्तुति करने के बाद शिवकुमार गुरु-चरणों के निकट ही बैठ गये। सभी जन भी वहीं बैठ गये। गुरु-वचनामृत के पिपासुओं को पूज्य गुरुवर ने परमहितकारी धर्मामृत का उपदेश दिया, जिसे सुनकर शिवकुमार के अन्दर सकल संयम की भावना प्रबल होने लगी, परन्तु वे पिता को वचन दे चुके थे, अतः उन्होंने पाँच अणुव्रतों की ही प्रार्थना की।

पूज्य मुनिवर ने उसे पात्र जान श्रावकोचित पंच अणुव्रत दिये, उन्हें कुमार ने सहर्ष अंगीकार किया। धर्म धारण करके शिवकुमार आत्मिक शांति का अनुभव करने लगे, परन्तु अन्दर में तो प्रचुर स्वसंवेदन की भावना थी, उससे वंचित रहने के कारण अतृप्ति भी बनी हुई थी। फिर भी वे अपने आपको समझाकर शांतभाव से गुरुवर की स्तुति कर रहे थे। पिता आदि सभी शिवकुमार के ही साथ में स्तुति कर रहे थे।

है परम दिगम्बर मुद्रा जिनकी, वन वन करें बसेरा।
मैं उन चरणों का चेरा, हो वन्दन उनको मेरा॥
शाश्वत सुखमय चैतन्य सदन में, रहता जिनका डेरा।
मैं उन चरणों का चेरा, हो वन्दन उनको मेरा॥

उसके बाद सभी जन अपने नगर को वापिस आ रहे थे। साथ में शिवकुमार भी थे। उनका मन मुनिवर वृन्दों के साथ ही रहने का था, मगर क्या करें? वचनबद्ध कुमार आ तो नगर की ओर रहे थे, परन्तु पुनः पुनः पीछे मुड़-मुड़कर मुनिवरों को निहार रहे थे। संसार, देह, भोगों से विरक्त कुमार घर आते ही सर्व जनों से उदास महल के ही उद्यान में एकांतवास करने लगे, ब्रह्मचर्य के रंग में सरावोर हो मात्र एक वस्त्र सहित मुनिपद की भावना से पूर्ण व्रतों को पालने लगे, अपने ब्रह्मस्वरूप में लीन रहने लगे। विषय-कषाय तो अब कहाँ पलायमान हो गये, पता ही नहीं। वैरागी कुमार रानियों आदि को भूल ही गये, वे **जल तें भिन्न कमल** की भाँति विरागी होकर रह रहे थे। सचमुच सम्यग्ज्ञान की कोई अद्‌भुत महिमा है। महापुरुषों को कोई भी कार्य दुर्लभ नहीं होता।

अनाहारी पद की साधना में रत ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले कुमार कभी एक उपवास, कभी दो उपवास, कभी एक पक्ष के उपवास तो कभी एक माह के उपवास के बाद शुद्ध प्रासुक आहार से पारणा करते। मित्र में अति अनुरागी चित्तवाला दृढ़रथ भी, अपने मित्र को ज्ञान-वैराग्य रस में सरावोर देखकर संसार, देह, भोगों से उदासीन हो, मित्र के समान ही धर्मपालन करता हुआ, मित्र के ही साथ उद्यान के एकांत स्थान में रहने लगा। दोनों ही आत्मसाधना में रत थे। दोनों ही वीतरागी दुनिया में विचरण कर रहे थे।

वैराग्य रस में पगे ब्रह्मचारी कुमार ने अति उग्र तप का आदर किया एवं काम-क्रोधादि विकारी भावों को निःसत्व कर दिया। मोक्ष के आराधक ब्रह्मचारी कुमार ने संसार-दुःखों से भयभीत हो, मोक्ष के हेतु ६४,००० चौंसठ हजार वर्ष तक तप करते हुए आयु के अंत में अतीन्द्रिय आनंदमयी परम दिगम्बर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। वे अब मुनिपद में शोभायमान होने लगे। जितेन्द्रिय मुनिराज

ने चार प्रकार के आहारों का त्याग कर आत्माधीन हो नश्वर काया का त्याग किया।

पुण्योदय से वे अनेक अणिमा आदि ऋद्धियों से पूर्ण छट्ठे ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में विद्युन्माली इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए। उस देव की दस सागर की आयु थी। उसके पास उसी विमान में चार देवियाँ विद्यमान थीं। विद्युन्माली देव सम्यग्दृष्टि होने से धर्मात्मा था। धर्मी जीवों के मन में संयोग के वियोग कृत दुःख व शोक नहीं होता। वे इष्ट के वियोग में और मरण के संयोग में समता के धारी होते हैं, इसलिए हे श्रेणिक! इनकी माला भी नहीं मुरझाई और न देह ही कांतिहीन हुआ और न ही उसके सहवास से कल्पवृक्ष मंदज्योति हुए।

यह सुनकर श्रेणिक राजा विचारता है कि - "असंयोगी तत्त्व के आराधकों की वृत्ति कोई अलौकिकी होती है। वे संयोगों से एवं संयोगी भावों से जितने भिन्न रहते हैं, उतने ही संयोग उनके पुण्यरूपी छाया के प्रताप से उनका दासत्व स्वीकार कर सर्वस्व समर्पण कर देते हैं।"

श्रेणिक राजा - "हे गुरुराज! श्री सागरचन्द्र मुनिराज फिर कहाँ चले गये? उनका सम्यक् वृत्तांत सुनने की मेरी भावना हुई है।"

गणधर देव - "हे भव्योत्तम! सागर-सम धीर एवं गुण-गंभीर सागरचन्द्र मुनिराज ने भी उग्र तप करके समाधिमरण पूर्वक शरीर का त्याग कर दिया। उनका जीव भी छट्ठे स्वर्ग में अणिमादि गुणों से पूर्ण प्रतीन्द्र हुआ। वह भी पंचेन्द्रिय संबंधी नानाप्रकार के सुखों की इच्छा से निर्बाध स्वर्गोपनीत भोगों को भोग रहा है।

धर्म ही वह कल्पतरु है, नहीं जिसमें याचना।
धर्म ही चिंतामणी है, नहीं जिसमें चाहना॥
धर्मतरु से याचना बिन, पूर्ण होती कामना।
धर्म ही चिन्तामणी है, शुद्धात्मा की साधना॥

इसलिए हे बुद्धिमानों! अखिल प्रयत्न से इस धर्म को धारण करना ही योग्य है।"

विद्युन्माली देव की चार देवियाँ

श्रेणिक महाराज अंजुलि जोड़, नतमस्तक हो विनयपूर्वक श्री गौतमस्वामी से पूछने लगे - "हे स्वामिन्! इस विद्युन्माली देव की जो चार देवियाँ हैं, वे किस पुण्योदय से देवियाँ हुई हैं?"

तब श्री गौतमस्वामी बोले - हे जिज्ञासु श्रेणिक! इस देश में चंपापुरी नाम की नगरी है। वहाँ धनवानों में प्रधान एक सूरसेन सेठ था। उस सेठ की चार रानियाँ थी। उनके नाम इसप्रकार थे - जयभद्रा, सुभद्रा, धारिणी और यशोमती। पुण्योदय से इन रानियों के साथ वह बहुत समय तक सुख भोगता रहा। पुण्योदय क्षीण होते ही उसे पाप ने आ घेरा, उसके शरीर में श्वांस, क्षय, जलोदर, भगंदर, गठिया आदि अनेक रोग हो गये। जब रोगों की तीव्रता हुई, तब शरीर में रहने वाली धातुओं ने विरोध का रूप धारण कर लिया, जिससे उसे अशुभ वस्तुओं की तीव्र अभिलाषा जाग उठी।

रोगों की प्रचुरता में ज्ञान भी मंद पड़ गया और क्रोध के आवेश में वह अपनी पत्नियों को मुट्ठियों एवं लाठियों से मारने लगा और कुत्सित वचन बोलने लगा। वह दुर्बुद्धि होने के साथ-साथ भ्रांतिवान हो अपनी पत्नियों के शील में दोष लगाते हुए बोला - "तुम लोगों के पास मैंने किसी पर-पुरुष को खड़ा देखा था। अब कभी दिखा तो मैं तुम लोगों के नाक, कान आदि छेद डालूँगा और तुम्हारे प्राण ले लूँगा।"

इत्यादि हृदय विदारक वचन कहने लगा। पापोदय से वह रौद्र परिणामी हो गया। वे चारों पत्नियाँ मन ही मन बहुत दुःखी हो सोचती हैं - "हे प्रभु! हम लोगों ने कभी पर-पुरुष का विकल्प भी नहीं किया, यह कौन से पूर्वकृत पाप-परिणाम का फल आया है? धिक्कार है इस स्त्री पर्याय को और इस जीवन को। इसका प्रायश्चित्त तो अब जिनधर्म की शरण के अलावा और हो ही नहीं सकता।

अत: वे धर्माचरण करने की भावना भा रही थीं, उन्हें तीर्थवंदना के भाव बारंबार उठ रहे थे। उन्होंने सेठ साहब का उचित उपचार

कराया, जिससे सेठजी स्वस्थ हो गये एवं मति भी ठीक हो जाने पर उन रानियों ने सेठजी के समक्ष अपनी तीर्थवंदना की भावना व्यक्त की, जिसे सुनकर सेठ ने उन्हें तीर्थवंदना की स्वीकृति देते हुए उनकी योग्य व्यवस्था भी कर दी। उनका पुण्य का उदय शीघ्र ही फलीभूत हुआ। वे चारों रानियाँ तीर्थधाम की यात्रा के लिये निकल गईं।

वहाँ प्रथम ही चंपापुर में परमपूज्य श्री वासुपूज्य स्वामी का मंदिर था। वहाँ उन्होंने जिनदर्शन के लिए प्रवेश किया। अन्दर जाते ही वीतराग भाववाही जिनबिम्बों का दर्शन पा अपना जन्म सफल हुआ जान अपने को धन्य मानने लगीं और जब वे चारों ओर अन्दर के जिनालयों की वंदना को गईं तो साक्षात् सिद्ध-सदृश पूज्य मुनिवर के भी दर्शन पा आनंदित हो गईं। उन्होंने मुनिराज के मुखारविंद से धर्मामृत का पान कर गृहस्थोचित श्रावक के व्रत अंगीकार कर, पुनः गुरुवर को नमस्कार करके मंदारगिरि के लिये प्रस्थान किया। अहो! आज अपना महाभाग्य जागा है, जो जिनदर्शन पा निजदर्शन करने की भवतापहारी यह दिव्य-देशना सुनने को मिली। मंदारागिरि के दर्शन करने के बाद जयभद्रा रानी बोली - "चलो बहनें! हम सभी शाश्वत तीर्थधाम सम्मेद शिखरजी की यात्रा को चलें।"

सुभद्रा रानी - "बहन! इन तीर्थों की यात्रा क्यों की जाती है? जबकि कहीं-कहीं पर्वतों पर भगवान की प्रतिमायें भी नहीं होतीं, मात्र चरण ही रहते हैं।"

जयभद्रा रानी - "बहनों! इन तीर्थक्षेत्रों की वंदना इसलिए करते हैं क्योंकि जहाँ से जो भव्य जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं, वे वहीं से सीधे ऊपर सिद्धालय में समश्रेणी में विराजमान होते हैं। दूसरी बात साधकों की साधना-भूमियों पर आने से जीवों को आत्म-साधना की प्रेरणा मिलती है। अतः कोई द्रव्य-भाव से मुनि-दीक्षा धारण कर, कोई आर्यिका-दीक्षा धारण कर, कोई उत्कृष्ट श्रावक-दशा को प्राप्त कर और कोई पवित्र सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर मुक्तिपथ में प्रयाण करते हैं।

तीर्थराजों की यात्रा में जीव वैर-विरोध भूल जाते हैं। साधु-संत एवं तीर्थंकर भगवान आदि के इन भूमियों पर चरण पड़ने से उनके

चिह्न बन जाते हैं, इसलिए पर्वतों पर भगवान के चरण-चिह्न होते हैं। आप लोगों ने मंदारगिरि में भी देखे होंगे कि चरण-चिह्न में रेखाएँ बनी हुई हैं और नख नहीं होते, क्योंकि जमीन पर चरण रखने से नीचे के चिह्न पड़ते हैं, तो अंगुलियों में नीचे तो नख नहीं होते। इसलिए चरण-चिह्नों की यही पद्धति सम्यक् है।"

धारिणी रानी - "बहन संतों ने इतने ऊपर एवं एकांत में जहाँ जंगली पशु रहते हैं, वहाँ जाकर साधना क्यों की?"

जयभद्रा रानी - "बहनों! पर्वतों के नीचे की भूमियों पर मनुष्यों आदि का निवास अधिक रहने से वातावरण भी अशांत एवं संसारवर्धक होता है। वहाँ आत्म-साधना निर्विघ्नरूप से नहीं हो पाती तथा असंयमी जनों का सहवास दोष-उत्पादक होता है; इसलिए संतों की साधना-भूमि पर्वत, गुफा, कोटर, गिरि-कंदरा आदि स्थान पर ही होती है, वे वहाँ एकाकी साधना करते हैं।"

यशोमती रानी - "बहन! हम सम्मेद शिखरजी की यात्रा को जा रहे हैं, इसके संबंध में मुझे एक शंका है कि शास्त्रों में १७० सम्मेद शिखर की चर्चा आती है। उसका क्या मतलब है?"

जयभद्रा रानी - "बहनों! वास्तव में पूरे मध्यलोक में एकसाथ १७० तीर्थंकर हो सकते हैं। अत: उनकी शाश्वत निर्वाण भूमियाँ सर्वत्र शाश्वत तीर्थधाम सम्मेद शिखर ही हैं। इसीप्रकार सभी १७० तीर्थंकरों की जन्म स्थली अयोध्या होने से अयोध्या की संख्या भी १७० है। इसका प्रमाण इसप्रकार है - मध्यलोक में अढाई द्वीप संबंधी ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ विदेह क्षेत्र हैं। जहाँ ५ भरत क्षेत्र के ५ तीर्थंकर, ५ ऐरावत क्षेत्र के ५ तीर्थंकर तथा ५ विदेह क्षेत्रों में एक-एक में ३२-३२ तीर्थंकर होते हैं। इसप्रकार ५ ५ + (५ x ३२) = १७० तीर्थंकरों की जन्म स्थली अयोध्या तथा निर्वानस्थली सम्मेद शिखर होने से उनकी संख्या भी १७० है।"

पश्चात् सभी बहनें बोलीं - "दीदी! आज आपने बहुत-सी नई-नई बातें बताईं। अपना रास्ते का समय भी कितनी सुन्दर चर्चाओं में निकल गया और देखो! अब हम सभी इस अनंत महिमावंत

शाश्वत तीर्थधाम में भी आ गये।"

वहाँ पहुँचकर सभी ने द्रव्य एवं भावशुद्धि के साथ पर्वतराज पर चढ़कर अनेक कूटों के दर्शन कर भावों में निर्मलता प्राप्त की एवं अणुव्रतों में भी दृढ़ता प्राप्त की। यात्रा करते हुए उन्होंने पर्वत पर अनेक वीतरागी संतों के दर्शन किये एवं उनसे धर्मामृत का पान किया। उसके उपरांत चतुर्विध संघ को आहार-दानादि देकर अपने मन में शांति का अनुभव किया।

उसके बाद उन्होंने गिरनारजी सिद्धक्षेत्र के दर्शनों के लिए प्रयाण किया। इसप्रकार अनेक सिद्धक्षेत्र, तीर्थक्षेत्र आदि की वन्दना कर अपने घर के लिए प्रस्थान किया। वे चारों श्रेष्ठी पत्नियाँ आ तो रहीं थीं अपने घर के लिए, परन्तु उनका मन उन वीतरागी साधक संतों के साथ वीतरागी दुनिया में रहने को ललक रहा था। उनके अन्दर संसार, देह एवं भोगों के प्रति उदासीनता आ चुकी थी, फिर भी श्रेष्ठी की आज्ञा के अनुसार अपने घर को आते समय रास्ते में कभी बारह भावनाओं को भातीं तो कभी गुरुवरों से सुने सात तत्त्वों के स्वरूप पर चर्चा करती थीं। इसप्रकार वे आत्मभावना भाती हुई अपने घर को पहुँच गईं।

घर आते ही देखती हैं कि सेठजी पुनः प्रचुर रोगों से ग्रसित हैं, इसलिए उनकी सेवा आदि करने लगीं। उपचार बहुत कराया, परन्तु कुछ हाथ न लगा। अन्त में वे चारों रानियाँ सेठजी को णमोकार मंत्र आदि सुनाने लगीं। मगर पापोदय से सेठजी को जिनवाणी नहीं सुहाई। वे रौद्र परिणामों से मरण को प्राप्त हो गये। मरण-उपरान्त सेठानियों ने उनका उचित क्रियाकर्म कराया। उसके बाद चारों का हृदय संसार से विरक्त हो गया।

विरक्तचित्ता, कुशलबुद्धि की धारिकाओं ने अपनी अतुल सम्पत्ति को बेचकर एक भव्य जिनालय का निर्माण कराया और फिर वन में जाकर शास्त्रानुसार विधि के साथ पूज्य गणीजी के पास आर्यिका के व्रत धारण कर लिये। बहुत समय तक अपने व्रतों का निर्दोष पालन करते हुए उन चारों आर्यिकाओं ने आयु के अंत में समाधिपूर्वक मरण किया और इस विद्युन्माली देव की नियोगिनी के रूप में स्वर्ग में उत्पन्न हुई हैं।

श्रेणिक राजा उनका वृत्तांत सुन प्रमुदित हुए। धर्म के लोभियों को धर्मगुरु का समागम मिलते ही वे अपने हृदय में उठने वाले सम्पूर्ण प्रश्नों का समाधान कर लेना चाहते हैं। राजा पुनः हाथ जोड़ पूछने लगे - ''हे गुरुवर! मेरी जिज्ञासा अब यह जानने की है कि विद्युच्चर चोर ने जिनधर्म किसतरह पाया? कृपया इसका भी समाधान कीजिए।''

तब श्री महावीर प्रभु के दयारूपी मेघ-जल से पूर्ण समुद्र के समान गंभीर एवं गुणों के धारक श्री गौतम स्वामी ने विद्युच्चर चोर का धर्म में परिवर्तन संबंधी वर्णन इसप्रकार किया -

विद्युच्चर का आमूल-चूल परिवर्तन

इसी मगध देश में हस्तिनापुर नाम का महानगर है, जो स्वर्गपुरी समान है। वहाँ का राजा संवर एवं उसकी प्रियवादिनी श्रीषेणा नाम की रानी थी। उनका विद्युच्चर नाम का पुत्र था। वह बहुत विद्वान था। जैसे-जैसे वह कुमार अवस्था को प्राप्त होता गया, वैसे-वैसे उसने बुद्धि की तीक्ष्णता के कारण अस्त्र, शस्त्र आदि अनेक विद्याएँ शीघ्र ही सीख लीं। एक दिन उसको पापोदय से खोटी बुद्धि उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा - ''मैंने सब कलायें सीखी, परंतु चौर्यकला नहीं सीखी। उसका भी मुझे अभ्यास अवश्य करना चाहिए'' - ऐसा विचार कर उसने एक रात्रि में अपने ही पिता के महल में धीरे-धीरे चोर की तरह जाकर बहुमूल्य रत्न चुराये। वे रत्न अति ही प्रकाशमान थे। जब वह रत्न चुराकर लौट रहा था, तब किसी व्यक्ति ने उसे देख लिया। सुबह होते ही उसने राजा को कुमार के द्वारा की गई चोरी का वृत्तांत कह दिया। चोरी की बात सुनते ही राजा ने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि शीघ्र ही कुमार को वहाँ लाया जाय। कर्मचारियों के कहने पर कुमार शीघ्र ही आकर वीर सुभट के समान पिता के समक्ष खड़ा हो गया।

राजा ने उसे अपने मृदु वचनों से समझाया - ''बेटे! यह चोरी तूने कब से सीख ली? और चोरी तूने क्यों की? इस राज्य में समस्त मनवांछित सामग्री उपलब्ध है। उनका भोग-उपभोग तुम अपनी रानियों सहित खूब करो। तुम्हें कोई रोक-टोक तो है नहीं

और फिर ये राज्य-वैभव तुम्हारे लिए ही तो है। अन्यत्र प्राप्त न हों - ऐसी वस्तुएँ अपने यहाँ सहज उपलब्ध हैं। फिर चोरी करने का क्या काम है? चौर्यकर्म तो महा पापमय है और लोकनिंद्य भी है। इससे तो जीव वर्तमान में ही अगणित दु:खों को पाते हैं और जगत में अपयश के पात्र बनते हैं, विवेकहीन हो महा संताप को प्राप्त होते हैं। परलोक में भी महादु:ख प्राप्त करते हैं। इसलिए ऐसे कार्य को भविष्य में तुम कभी नहीं करना।''

जैसे ज्वर पीड़ित व्यक्ति को मिष्ट भोजन नहीं सुहाता है, वैसे ही पाप से मोहित विद्युच्चर को पिता द्वारा दी गई सुखप्रद सीख अच्छी नहीं लगी। वह बड़ों की मान-मर्यादा तोड़कर पिता को जबाब देने लगा - ''महाराज! चौर्यकर्म और राज्य में बड़ा अन्तर है। राज्य में तो परिमित लक्ष्मी होती है, मगर चोरी से अपरिमित लक्ष्मी का लाभ होता है, इसलिए दोनों में समानता नहीं हो सकती। आपको चौर्यकर्म से भी गुण ग्रहण करना चाहिए।''

इसप्रकार कहकर वह कुछ भी सोचे-विचारे बिना पिता के वचनों का उल्लंघन करके क्रोधाग्नि से कुपित होकर घर से निकल गया और राजगृही नगरी में जाकर वहाँ कामलता नाम की वेश्या के चक्कर में फँस गया। उसके रूप पर मोहित होकर उसके साथ इच्छानुसार विषय-कषाय में मग्न होकर रहने लगा तथा उसकी हर इच्छा पूर्ण करने में तत्पर वह दुष्ट चोरी आदि कार्य करता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

- इसप्रकार गौतम गणधर ने विद्युच्चर चोर का वृत्तान्त कहा।

जम्बूकुमार के जन्मस्थान संबंधी वृत्तान्त

जिसकी प्रतीक्षा श्रेणिक राजा आदि चातकवत् कर रहे थे, आज वह मंगल बेला आ गई है। सभी के मन-मयूर आनंद से नाच रहे हैं।

श्री वीरप्रभु की दिव्यदेशना-श्रवण के उपरांत श्रेणिक राजा पुन: उत्तमोत्तम गुणों के धारणहार श्री गौतम स्वामी से विनयपूर्वक प्रश्न पूछने लगे - ''हे स्वामिन्! विद्युन्माली देव के वृत्तांत में यह भी

मुखरित हुआ था कि वह देव आज से सातवें दिन इस पृथ्वीतल पर अवतरित होगा, अतः हे गुरुवर! यह पुण्यवान किसकी कुक्षी को पावन करेगा? इसके आगमन से कौन-सी वसुधा सनाथ बनेगी?"

श्री गौतमस्वामी बोले - "हे महाप्रज्ञ! इसी राजगृह नगर में अनेक प्रकार की धन-सम्पदा से सम्पन्न, सद्धर्म का उपासक, सरलचित्त, वात्सल्यस्वभावी एक अर्हद्दास श्रेष्ठी रहता है। उसकी जिनमती नाम की रूपवान और धर्मवान पत्नी है। यह भव्यात्मा उसके पवित्र गर्भ को पावन करके इस वसुंधरा पर अवतरित होगा। ये पूर्व के दो भवों से ही आत्मा के प्रचुर स्वसंवेदन का सुधापान करते आये हैं और आज भी सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से सुशोभित है। यह चरम शरीरी भव्य आत्मा इसी भव में अपनी साधना को पूर्ण कर, जगत को धर्ममार्ग दिखा कर मोक्षलक्ष्मी का स्वामी होगा।"

जिस समय श्री गौतमस्वामी के मुखारविंद से इस भव्योत्तम के जीवन-चरित्र के संबंध में उपदेश हो रहा था, उसी समय वहाँ कोई यक्ष बैठा हुआ था। वह जम्बूस्वामी संबंधी बात सुन आनंदविभोर हो नृत्य करते हुए खूब जयगान करने लगा - "हे स्वामी! हे केवलज्ञानी! हे नाथ! आपकी जय हो, जय हो! आपके प्रसाद से मैं कृतार्थ हो गया। मेरा भाग्य जाग उठा। उन माता-पिता को धन्य है, उस नगर-पुर को धन्य है, जहाँ अंतिम केवली का जीव आयेगा। उस कुल को भी धन्य है, वह घर भी पवित्र है, जहाँ सदा धर्म का प्रवाह बहेगा।"

वह यक्ष अपने आसन पर खड़ा-खड़ा बार-बार हर्ष से नृत्य कर रहा था, उसे हर्ष सहित नृत्य करते देख राजा श्रेणिक एवं श्रोतागण उसका रहस्य नहीं जान पाये; इसलिए राजा श्रेणिक ने पुनः विनयपूर्वक प्रश्न पूछा - "हे गुणनिधि गुरुवर! यह कौन व्यक्ति है? यह इतना हर्षित होकर नृत्य क्यों कर रहा है? इसका रहस्य जानने की मेरी तीव्र भावना है।"

यक्ष के पूर्वभव

तब श्री गौतम महाराज बोले - "हे श्रेणिक! इसी नगर में एक धनदत्त नाम का श्रेष्ठि-पुत्र था, जो सौम्य-परिणामी एवं कुबेर समान धन-वैभव का स्वामी था। उसकी एक गोत्रमती नाम की सुन्दर पत्नी थी। उसके दो पुत्र थे। बड़े पुत्र का नाम अर्हद्दास एवं छोटे का नाम जिनदास था। अर्हद्दास तो अंतिम केवली के जनक होनेवाले हैं तथा स्वभाव से ही गंभीर एवं बुद्धिमान हैं, मगर जिनदास चंचलवृत्ति वाला था। तीव्र पापोदय से वह धर्म-कर्म से विमुख हो सप्त व्यसनों का सेवन करने लगा।

यह तो जगतप्रसिद्ध है कि एक जुआ के व्यसन में फँसकर युधिष्ठिर आदि पांडु-पुत्रों ने राज्य-भ्रष्ट होकर महान दुःखों को भोगा, तब फिर जो व्यक्ति पाँचों पापों एवं सातों व्यसनों का सेवन करेगा, उसे सर्व दुःख-संकटों का सामना करना पड़े, इसमें क्या आश्चर्य है? वह तो भव-भव में दारुण दुःखों को पाता ही है।

इस तरह नगर में उसके दुर्व्यसनों की चर्चा जोर-शोर से चल पड़ी। कितने ही नगरजन अपनी जाति को कलंक लगा जान उसे दुर्वचन भी कहने लगे, परंतु मति-भ्रष्ट जिनदास पर उनका कुछ भी असर नहीं पड़ा। वह तो पापकार्यों को और भी अधिक प्रवर्तन करने लगा। जिसके फलस्वरूप यह समय भी आ गया कि वह अपनी शक्ति से भी अधिक सोना-मुहर जुआ में हार गया। तब जीतने वाले जुआरी ने जिनदास को पकड़कर कहा - "जितना द्रव्य तू हारा है, वह मुझे शीघ्र दे, आज ही दे।"

तब जिनदास अति आकुलित हो कहने लगा - "मेरे पास इतना धन है ही नहीं और इतना सुवर्ण तो मैं प्राणों के अंत होने तक भी नहीं दे सकूँगा।"

तब जुआरी ने धमकाया - "या तो मैं मेरा पूरा स्वर्ण लूँगा नहीं तो तेरे प्राण लूँगा।"

इस तरह परस्पर में लड़ाई-झगड़ा मच गया। उस जुआरी ने क्रोधावेश में अपनी तलवार निकालकर जिनदास को मारी, जिससे जिनदास मूर्छित हो गिर पड़ा। तब वह जुआरी जघन्य अपराध के

कारण अन्य लोगों के द्वारा मारा गया। यह समाचार पाते ही बहुत से नगरवासी वहाँ इकट्ठे हो गये। उसी समय अचानक अर्हद्दास भी वहाँ आ गये। भाई को मूर्छित देख व्याकुल चित्त हो, उसे उठाकर यत्नपूर्वक घर ले गये और वैद्यों को बुलाकर उसका अनेक प्रकार से उपचार कराया, परन्तु जिनदास को संतोष नहीं हुआ, सो ठीक ही है - **दुर्जन पर किया गया उपकार उसके स्वभाव के कारण व्यर्थ ही जाता है।** उसे शांति एवं समाधान करने हेतु अर्हद्दास जिनवाणी के बोधप्रद शब्दों से समझाने लगे -

"भो भ्रात! इस संसार-समुद्र में अज्ञानी प्राणी पर को अपना मानकर और अपने को भूलकर पापों में प्रवर्तन करने से सदा दुःख ही भोगते रहते हैं। पापबंध के कारण इन मिथ्यात्व, विषय-कषायों के वश अनंतकाल से पंचपरावर्तनों को करता हुआ यह भ्रमण कर रहा है। हे बन्धु! तू ही प्रत्यक्ष देख रहा है कि एक धूर्त कर्म के कारण तूने कितने दुःख पाये। व्यसन तो कोई भी हो उसमें फँसने वाला महा दुःख-संकटों को प्राप्त होता है।"

तब जिनदास अपने बड़े भ्राता द्वारा कहे गये हितकारी वचनों को सुन पापों से भयभीत हो पश्चाताप करने लगा -

"हे भ्रात! आप मेरे परम उद्धारक हो, आपने मुझ जैसे अधम, व्यसनी, पापी को सद्बोध देकर संसार के दुःखों से बचा लिया। आज से मैं सभी व्यसनों को त्याग कर आपकी और जिनधर्म की शरण ग्रहण करता हूँ।"

जिनदास के पश्चाताप भरे करुण वचनों को सुन बुद्धिमान अर्हद्दास ने छोटे भाई का जैसे धर्मसाधन हो वैसा उपाय किया। जिनदास ने अपने बड़े भाई से श्रावक के अणुव्रत ग्रहण कर लिये और आयु के अंत में समाधिमरण धारणकर देह छोड़कर इस यक्ष पर्याय को प्राप्त हुआ है। अतः यह ऐसा जानकर आनंद से नाच उठा है कि - "अपने ही वंश में अन्तिम केवली का जन्म होगा, यह विद्युन्माली देव मेरे बड़े भ्राता का चरम शरीरी पुत्र होगा, जिसका नाम जम्बूस्वामी होगा।"

राजा श्रेणिक भगवान की दिव्य-ध्वनि में अपने प्रश्नों का समाधान पाकर प्रसन्न हो घर लौटने की भावना से जिनेन्द्र-वंदना करके प्रभु का स्तवन कर रहे हैं - "हे प्रभो! आप जगत को शरीर-सहित दिखने पर भी सदाकाल अशरीरी अर्थात् ज्ञानशरीरी ही हो। हे नाथ! आप राग-द्वेष से रहित सदा पूर्ण ज्ञानमय हो। आप अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य और अनंत विभुतामय हो। आप प्रभुत्वशक्ति युक्त हो। आप ज्ञेयों से अप्रभावित ज्ञायक हो। आप आनंदमयी मूर्ति हो। आप जगत में सक्रिय दिखने पर भी निष्क्रिय हो, ध्रुव हो। हे प्रभो! आप सदा परद्रव्यों से एवं परभावों से असम्बद्ध मात्र चैतन्यमय ही हो। आप अनंत गुणों के निधान हो, चैतन्य रत्नाकर हो। हे प्रभो! आपकी जय हो, जय हो।"

इत्यादि नाना प्रकार से भगवान् की स्तुति करके राजा ने अपने गृह की ओर प्रस्थान किया। अपने घर पहुँच कर राजा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के नाशक तथा अनंत-सुखदायक जिनधर्म की उपासना करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे।

जम्बूकुमार का अवतरण

आत्महितकारक वीतराग धर्म की आराधना करते हुए राजा श्रेणिक राज्य करते थे। राज्यश्रेष्ठी श्री अर्हद्दास एवं सीता समान शीलवती गुणवती एवं रूपवती जिनमती सेठानी, दोनों जन परस्पर स्नेह भाव से न्यायपूर्वक गृहस्थ के सुख भोगते हुए जैनधर्म में दत्तचित्त रहते थे। उन्हें कुछ पता ही नहीं था कि हमारे आंगन में मंगल सूर्य उदित होने वाला है। शीघ्र ही दिनकर के आगमन के कुछ चिह्न दिखने लगे। सेठानी जिनमति ने रात्रि के पिछले प्रहर में पाँच मंगल स्वप्न देखे - १. भ्रमरों के समूह से गुंजायमान एवं फल-फूलों से लदा सुन्दर **जाम्बूवृक्ष** २. धूम्ररहित **अग्नि** ३. हरा-भरा धान का **खेत** ४. पद्म से शोभित **सरोवर** और ५. तरंग सहित **समुद्र।**

स्वप्न पूर्ण होते ही जिनमति जाग गई। वे मन ही मन इन शुभ स्वप्नों का कारण खोजने लगी - "अहो! क्या कोई दिव्यपुरुष मेरे गर्भ में आनेवाला है? क्या इस घर में किसी को केवलज्ञान लक्ष्मी उदित होनेवाली है? श्री वीरप्रभु के मोक्षगमन के बाद तीन

केवली और होंगे; जिनमें से दो केवली तो हो चुके हैं, क्या अंतिम केवली का जीव मेरी कुक्षी को पवित्र करनेवाला है?'' इत्यादि अनेक प्रकार की भावनाएँ उनके मन में उछल ही रही थीं कि रात्रि अस्त हो गई एवं सहस्रकलायुक्त भानु उदित हो उठा। सेठानीजी ने नित्यकर्म से निवृत्त हो सेठजी को प्रणाम किया और अपने पांच मंगलमयी स्वप्नों का वृत्तांत कहकर उनका फल जानने की अभिलाषा व्यक्त की।

पंच स्वप्नों का समाचार सुनते ही सेठ का मन-मयूर वैसे ही आनंद से नाच उठा, जैसे मेघों को देखते ही मयूर मधुर-मधुर शब्दों के गान सहित नाचने लगते हैं। वे उसीसमय अपनी सेठानी सहित जिनमंदिर को गये। वहाँ श्री जिनेदव के दर्शन कर भक्तिभाव से पूजन की। उसके बाद से श्री वैश्वराज आदि मुनिवरों के पास गये। वहाँ मुनिवर वृन्दों के दर्शन कर उन्हें नमस्कार करके उनके चरणों में बैठ गये। जब मुनिराजों का ध्यान भंग हुआ, तब विनयपूर्वक पंच स्वप्नों का वृत्तांत कहकर फल पूछने लगे - ''हे स्वामिन्! हे अवधिज्ञान नेत्र के धारक मुनिवर! आज हम इन पाँच शुभ स्वप्नों का फल जानना चाहते हैं।''

मुनिराज अवधिज्ञान से स्वप्न-फल जानकर हर्षित चित्त हो कहने लगे - ''हे राज्यश्रेष्ठि! **जाम्बूवृक्ष** देखने से पता चलता है कि तुम्हारे कामदेव-सदृश सुन्दर पुत्र होगा। हे भव्य! तुम बड़े पुण्य-प्रतापी हो। तुम अंतिम केवली चरम शरीरी पुत्र के पिता बननेवाले हो, जो स्व-पर का कल्याण करके तद्भव-मोक्षगामी होगा। **धूम्ररहित अग्नि** देखने से तुम्हारा पुत्र कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाला होगा। **धान्ययुक्त खेत** देखने से वह लक्ष्मीवान होगा। **कमल-सहित सरोवर** देखने से वह भव्य जीवों के पापरूपी संताप को शांत कर आनंद करनेवाला होगा और **चंचल समुद्र** देखने से संसार-समुद्र के पार पहुँचेगा और भव्य जीवों को सुख प्राप्ति के लिए धर्मामृत की वर्षा करेगा।

पूज्य मुनिवर से स्वप्नों का फल ज्ञात कर श्रेष्ठी आनंदित हुआ। सभी मुनिवर वृन्दों को त्रियोगपूर्वक नमस्कार कर वे दोनों अपने घर आये और प्रेम पूर्वक गृहस्थोचित भोगोंपभोगों को भोगते हुए रहने लगे। अपने पुण्योदय से विद्युन्माली देव का जीव स्वर्ग से जिनमती

के गर्भ में आया। यह जानकर दोनों अति प्रसन्न हुए। गर्भाधान होने पर कोमलांगी जिनमती का शरीर शिथिल रहने लगा, कोमल अंग में पसीना आने लगा। वह शिथिलता से मिष्ट वचनों पूर्वक बातचीत करती थी। अनेक प्रकार की बाधा आदि होने पर भी गर्भ में रहनेवाले चरमशरीरी शिशु को कोई भी बाधा नहीं होती थी। जिनमती रत्नगर्भा पृथ्वी के समान शोभती थी। जिनमती को समय-समय पर दोहले उत्पन्न होते थे। जैसे - मैं देव-शास्त्र-गुरु की पवित्र-भाव से पूजा करूँ, जिन-बिम्बों की खूब उत्सवपूर्वक प्रतिष्ठा कराऊँ, जिन मंदिरों, जिन-चैत्यालयों का जीर्णोद्धार कराऊँ, चार संघ को चार प्रकार का दान दूँ, तीर्थक्षेत्रों की यात्रा करूँ, इत्यादि।

पुण्य-प्रताप से उसके घर में पहले ही अटूट धन-सम्पदा थी। वह कुछ भी करना चाहे, सब-कुछ संभव है। अत: वह अपने मनोरथों को निर्विघ्न सम्पन्न करने लगी। उसे विभाव से भिन्न आनंदमयी चैतन्यभाव में रमण करने का परिणाम प्राय: उठा करता था, उसे विषयों का रस नहीं सुहाता था, वह तो चैतन्यरस को ही चाहती थी।

माता-पिता के मन में चरम शरीरी अंतिम केवली अपने पुत्र को देखने की अति तीव्र भावना थी। जैसै-जैसे गर्भस्थ बालक वृद्धिंगत होता जाता था, वैसे वैसे उनकी ये भावनाएँ अति तीव्र होती जाती थीं। मोक्षगामी सुत की खुशी में पुलकित-वदन और धर्माचरण में लगे हुए मन को यह ज्ञात ही नहीं हुआ कि नौ मास नौ दिन का समय कब व्यतीत हो गया। पूर्व दिशा में उदित सूर्य के समान, फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष में पूर्णिमा के शुभ दिन का प्रभात जम्बूकुमार के अवतरण से चमक उठा। जिनका वैराग्य रस गर्भित पुलकित वदन और सुन्दर रूप देखने को अँखियाँ तरस रही थीं, आज उस रूप को निरख अँखियाँ तृप्त होकर भी अतृप्तपने का अनुभव कर रही थी।

सेठजी के आनंद का कुछ पार न था। उन्होंने बड़े धूमधाम से चरमशरीरी पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। सारे नगर में बधाईयाँ बजवाई, जिनालयों में पूजन एवं विधानोत्सव कराया। घर-घर में मंगलगान कराये। जगह-जगह तत्व-गोष्ठियाँ होने लगीं। नगर के प्रत्येक चौराहे पर किमिच्छक दान दिया जाने लगा। राजा एवं नगर के श्रेष्ठिगण

गाजे-बाजों सहित उत्तमोत्तम भेंट लेकर बधाई देने आये। अरे! इस जन्मोत्सव को मात्र पृथ्वीतल पर ही नहीं मनाया गया, वरन् स्वर्ग के देवों ने भी दैवी पुष्पों एवं रत्नों की वर्षा कर, दिव्य वादित्र बजा कर, मंगल-गान कर इस जन्मोत्सव को मनाया। सर्वत्र आनंददायक जय-जय की ध्वनियाँ होने लगी। आनंद-विभोर हो नगर की नारियाँ मंगल-गीत गा-गाकर हर्ष से नृत्य करने लगीं। सेठजी ने इतना दान दिया कि लेने वालों की कमी पड़ गई, मगर धन का क्षय नहीं हुआ।

इस तरह वह पुण्यात्मा बड़े ही लाड़-प्यार से पाला जाने लगा। माता-पिता ने बन्धुवर्ग की सम्मति से नामकरण संस्कार कराया और बालक का नाम **जम्बूकुमार** रखा। सेठजी ने कुमार के लालन-पालन के लिए धाय-माताएँ नियत कर दीं, वे बालक को स्नान करातीं, श्रृंगार करातीं, खेल खिलातीं। जब वह बालक मुस्कुराता हुआ मणिमयी भूमि को स्पर्श करता था, तब माता-पिता उसकी अद्‌भुत चेष्टा को देखकर प्रमुदित होते थे। उसका रूप देख जगतजन नित प्रति आनंदित होते थे। चन्द्रकलासम नित ही वृद्धिंगत शिशु की मुख की कांति बढ़ती जाती थी, जिसे निरख-निरख माता-पिता का संतोष रूपी समुद्र भी बढ़ता जाता था। मंद-मंद मुस्कान-युक्त मुख ऐसा लगता था, मानो सरस्वती का सिंहासन है या लक्ष्मी का घर है या कीर्तिरूपी बेल का विलास है। जब वह ठुमक-ठुमक डग भरता हुआ इन्द्रनीलमणि की भूमि पर चलता था, तब वह रक्त कमलों की शोभा को भी जीत लेता था। जब वह शिशु-मंडली के साथ रत्न-धूलि में क्रीड़ा करता था, तब माता-पिता का हृदय फूला नहीं समाता था। वह बाल-चन्द्र उत्तम गुणों का निधान था, जिसके निर्मल अंगों में यश व्याप्त था। वह प्रजा को आनंद देनेवाला था।

जम्बूकुमार की कुमारावस्था

अब वह बाल्यावस्था का उल्लंघन कर कुमारावस्था को प्राप्त हो गया था। इन्द्रों का तेज भी उसके तेज के सामने लज्जित हो जाता था। यह कोमल तन, रूप-लावण्य का निलय, कोकिलासम मधुर वचन जगत को प्रिय थे। इस पुण्यवान को सर्व विद्याएँ स्वयं

ही पूर्व जन्म के अभ्यास से स्मरण में आ गईं थीं, वह शिक्षा बिना ही सर्व कलाओं में पारंगत हो गया था तथा बृहस्पति के समान सर्व शास्त्रों का ज्ञाता हो गया था। वह चरमशरीरी तो था ही, जैसे-जैसे उसका शरीर वृद्धि को प्राप्त होता जाता था, वैसे-वैसे गुण भी वृद्धि को प्राप्त होते जाते थे। उसके शरीर में विशेष प्रकार का आरोग्य एवं सौन्दर्य था।

जम्बूकुमार शारीरिक बल एवं असाधारण प्रज्ञा के धनी तो बचपन से ही थे। महापुरुष स्वभाव से ही प्रत्येक क्रिया-कलाप में कुशल होते हैं। जम्बूकुमार में भी वे सभी लक्षण देखने को मिलते थे।

जम्बूकुमार छंद, अलंकार, चित्रकला, लेखनकला, नृत्य, गीत, वादित्र आदि कलाओं को स्वयं करते हैं और मित्रगणों से भी कराते हैं। कभी कवियों के साथ काव्यचर्चा तो कभी वादियों के साथ वाद किया करते हैं। कभी वीणा बजाते या बजवाते तो कभी कर-तल-ध्वनि से नृत्यकारों के उत्साह को वृद्धिंगत करते हैं। कभी गंधर्वों के द्वारा गाये हुए गंगा-जल के समान अपने निर्मल यश को सुनते हैं। कभी वापिकाओं में मित्रों के साथ जल-क्रीड़ा करते हैं, पिचकारी भर-भरकर दूसरों पर छिड़कते हैं या कभी नंदनवन-समान वनों में जाकर वन-क्रीड़ा करते हैं।

इस तरह क्रीड़ा करते-कराते कुमार आठ वर्ष के हो गये। अब वे कभी जिनमंदिर में भगवान की भाव-भक्ति-पूर्वक पूजा करते, कभी एकाकी ध्यानमुद्रा लगाकर बैठ जाते तो कभी मित्रों के साथ धार्मिक चर्चा भी करते हैं। सर्वगुणरूपी रत्नों की खान, पवित्र मूर्ति, देवतुल्य जम्बूकुमार अपने पुण्य-प्रताप से अपने घर में कुमारों के साथ मनवांछित क्रीड़ा करते हुए चन्द्रमा के समान शोभते हैं। उनके कंठ में हार तो ऐसा शोभता है, मानो लक्ष्मीदेवी के झूलने का हिंडोला हो तथा उसमें जड़े हुए मोती तारागण के समान चमक रहे हैं।

जिस धर्मवृक्ष की शीतल छाया में पुण्योदय से तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण आदि पद फलते हैं। उसी धर्मवृक्ष की शीतल छाया में यह अंतिम अनुबद्ध केवली के रूप में पुण्य फलित हुआ है। ऐसे धर्मवृक्ष की सेवा-उपासना सभी को करना चाहिए।

जम्बूकुमार का रूप-लावण्य एवं सगाई

पुण्यवानों की शरण में ऐसे कौन-से गुण हैं, जो आकर वास नहीं करते हैं? और फिर जहाँ पुण्य के साथ पवित्रता का भी संगम हुआ हो तो वहाँ किस बात की कमी रह सकती है? अर्थात् किसी भी बात की नहीं। सुवर्ण के समान रंग और कामदेव का रूप, जिस पर चमकता हुआ पूर्ण यौवन का सूर्य, उसमें भी उत्तमोत्तम परमाणुओं का संगठन; फिर तो जम्बूकुमार कोई अद्भुत ही छटा बिखेरें - इसमें क्या आश्चर्य है? वे वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी थे, उनका समचतुरस्र संस्थान था, जिसमें अनेक शुभ लक्षण वास कर रहे थे। रोगों की तो परछाईं भी नहीं थी। उनके रूप-लावण्य व यौवन को देखकर मानवों के नेत्ररूपी भ्रमर कहीं और जगह रमण ही नहीं करते थे। उनका कामदेव के समान रूप को देख कई स्त्रियाँ सदा उन्हें देखती ही रहना चाहती थीं। कोई-कोई तो गृहकार्य छोड़कर उनके रूप को देखने झरोखों पर बैठ जाती थीं, कोई उनके निकलने की प्रतीक्षा करती थीं, तो कोई-कोई सड़कों पर घूमती रहती थीं।

इत्यादि नानाप्रकार से स्त्रियों के मन की गति हो जाया करती थी, सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यवान एवं रूपवान को कामी जीव चाहते ही हैं। नव-यौवनाओं की यदि ऐसी दशा थी तो दूसरी ओर वात्सल्य एवं ममता से भरी हुईं मातायें 'उस जैसा अपना पुत्र हो' - ऐसी भावना भाती थीं एवं सदाकाल उसके अभीष्ट की कामना करती थीं। कितनी ही युवतियाँ उसे भ्राता के रूप में देखती थीं। उसके मित्रजन चैतन्य स्पर्शी तत्वचर्चा सुनकर उसे सदा गुरुवत् आदर देते थे। वे भी सभी पर साम्यभाव से स्नेह लुटाते थे।

कुमार की सद्गुण-सम्पत्ति देख एवं सुनकर अनेक सेठों का का मन उसे अपना दामाद बनाने को लालायित हो गया था। अतः सेठ सागरदत्त अपनी पत्नी पद्मावती से अपनी कन्या पद्मश्री के संबंध में, सेठ धनदत्त अपनी पत्नी कनकमाला से अपनी पुत्री कनकश्री के सम्बन्ध में, वणिक-शिरोमणि वैश्रवण सेठ अपनी पत्नी विनयमाला से अपनी सुता विनयश्री के संबंध में और सेठ वणिकदत्त अपनी पत्नी विजयमती से अपनी सुपुत्री रूपश्री के सम्बन्ध में विचार करने

लगे - "अपने मित्र सेठ अर्हद्दास का पुत्र जम्बूकुमार धन-वैभव, रूप-लावण्य, कला, शास्त्र आदि सर्व गुणों से सम्पन्न है, परम धर्मात्मा मोक्षगामी जीव है, उसे अपनी कन्या दी जावे तो आपका क्या विचार है?"

सभी कन्याओं की माता यह शुभ विचार सुन मन में अति ही हर्षित होकर बोलीं - "हे स्वामी! आपकी कुशाग्र-बुद्धि को धन्य है, जो अपनी सुन्दर कन्या के लिए ऐसा उत्तम वर आपने चुना।"

चारों ही श्रेष्ठियों ने अपनी-अपनी धर्मपत्नी से विचार-विमर्श कर अपनी-अपनी कन्या को बुलाकर उनकी भावना जानने हेतु उनके सन्मुख अपना विचार रखा। चारों ही कन्याओं ने सलज्ज अपनी सहर्ष मौन स्वीकृति दे दी। इसके बाद चारों ही श्रेष्ठियों ने मिलकर विचार किया कि अपने मित्र श्रेष्ठी श्री अर्हद्दास के पास पहुँचे। अतः सेठजी के पास जाकर उनकी यथायोग्य विनय-सत्कार कर उनको बहुमूल्य भेंट प्रदान कर वे श्रेष्ठी-पुत्र श्री जम्बूकुमार के गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए बोले - "हे मित्र! आपके सुविख्यात पुत्र जम्बूकुमार के साथ हम अपनी-अपनी कन्याओं का विवाह करने की प्रार्थना करने आये हैं। आप हमारी प्रार्थना स्वीकार कर कृतार्थ कीजिए। धर्मात्मा पुत्र को पाकर आप तो धन्य हुए ही हो, ऐसे पवित्र धर्मात्मा के समागम से हम एवं हमारी कन्यायें भी धर्म को धारण कर धन्य बनेंगी।"

अर्हद्दास श्रेष्ठी अपने मित्रों की बात सुनकर अति प्रसन्न हुए एवं अपनी पत्नी जिनमती से चारों श्रेष्ठिओं की भावना को व्यक्त करते हुए पूछने लगे - "हे प्रिये! आपकी क्या सम्मति है?"

जिनमती चारों श्रेष्ठीयों के कुल, जाति एवं व्यवहार-कुशलता से अच्छी तरह परिचित थी ही, इसलिए जिनमती ने भी सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी। पुत्र के विवाह के उत्सव की इच्छा माताओं को स्वभावतः होती ही है। फिर योग्य और सर्वांग सुन्दर कन्याओं के मिल जाने पर तो उनके हर्ष का पार ही नहीं रहता।

चारों ही श्रेष्ठी, अर्हद्दास से स्वीकृति पा बड़े ही हर्ष के साथ अपने-अपने घर को गये। चारों ही कन्यायें एवं उनकी माताएँ समाचार सुनकर अति आनंदित हुईं। सभी ने मंगलमयी जिनेन्द्रदेव का स्मरण कर खूब जोर-शोर से विवाह-उत्सव की तैयारियाँ प्रारंभ कर दीं।

कुछ समय बाद पुनः चारों श्रेष्ठी श्री अर्हद्दास श्रेष्ठी से मिले और उन्होंने विवाह का शुभ-मुहूर्त सुधवाया। अक्षय-तृतीया के शुभ दिन विवाह होना निश्चित हुआ। उन्होंने मंगल मुहूर्त के समाचार घर में आकर कहे। सभी कन्याओं के लिए उनके माता-पिता ने सुवर्ण-रत्न आदि के आभूषण बनवाये और भी आवश्यक सामग्री का प्रबंध करने में सक्रिय हो गये। उसी दिन से अर्हद्दास आदि पाँचों श्रेष्ठियों के घर में मंगलगान होने लगे। सभी श्रेष्ठियों ने शुभ-विवाह की निमंत्रण-पत्रिका अपने-अपने बन्धुवर्ग को भेजी।

राजा के हाथी का छूटना एवं उसे वश करना।

सभी ऋतुओं में शिरोमणि वसन्तराज का आगमन हुआ। वृक्षों से पुराने पत्तों ने बिदाई ली और नवीन पत्तों ने आकर वृक्षमंडल को नीलकमल के समान सुशोभित कर दिया। नीलकमलसम वृक्षमंडल पर तारों के समान चमकते हुए पुष्पसमूह वसंतराज के यश को विस्तारित कर रहे हैं। कोयलें भी अपने मधुर स्वर से वसन्तराज का यशगान कर रही हैं। पुष्पों की सौरभ वन में ऐसी महक रही है, मानो कामदेव ने मोहित करने को जाल ही बिछा दिया हो। पुष्प-पराग के मतवाले भ्रमरों की पंक्तियाँ वन में घूम रही हैं, शीतल-शीतल मंद-मंद सुगंधित पवन चल रही है। खिले हुए फूलों से युक्त अशोक, चंपक, किंशुक आदि वृक्षों से वन शोभ रहा है।

ऐसी वसन्तऋतु में जम्बूकुमार अपने मित्रगणों के साथ वन में क्रीड़ा करने को गये हैं। उसी समय राजा एवं नगरवासी अपनी-अपनी पत्नियों सहित वन-क्यारियों में मनवांछित क्रीड़ा कर रहे हैं। सरोवर में स्नान करके सभी लोग हाथी, घोड़े आदि अपनी-अपनी सवारी पर बैठकर अपने-अपने डेरों की ओर परस्पर बातचीत करते हुए लौट रहे हैं। चारों तरफ बाजों की गंभीर ध्वनियाँ हो रही हैं।

इस तरह के कोलाहल को सुन श्रेणिक राजा का एक हाथी,

जो प्राय: युद्ध में जाया करता था, वह समझा कि युद्धस्थल में योद्धाओं का भयंकर कोलाहल हो रहा है और इस भ्रम से वह भयभीत होकर सांकल तोड़कर वन में घूमने लगा।

वह कृष्ण वर्णवाला नीलपर्वत के समान विशालकाय हाथी अपने बड़े-बड़े कर्णों को हिलाता हुआ इधर-उधर डोल रहा है। वह कभी बड़े-बड़े दांतों से पृथ्वी को खोदता है तो कभी सूँढ़ में सरोवर का पानी भर-भरकर फेंकता है। वह वन आम्र, चंपक, नारंगी, ताल, तमाल, किसमिस, खजूर, अनार आदि फल-फूलों से भरे वृक्षों से सुशोभित था, जिस पर मोर-मोरनी एवं कोयलों के मधुर शब्द गुंजायमान हो रहे हैं - ऐसे मनोहर वन के वृक्षों को उस हाथी ने जड़-मूल से उखाड़कर फेंकता हुआ शोभा-विहीन कर दिया। जिस वन की प्रशंसा देवगण भी करते हैं, उसे आज इस हाथी ने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

अपने-अपने घर की ओर लौटने वाले सभी नगरवासी, क्रोधावेश में भरे हुए हाथी को स्वच्छंद विचरण करते हुए देख आश्चर्य में पड़ गये। वे दूर से उस हाथी को देखते हैं कि इसके कपोलों से मद झर रहा है, जिससे उस पर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। वह युद्धस्थल के हस्तियों के समान चिंघाड़ रहा है, उसकी भयंकर चिंघाड़ सुन सभी भयभीत हो गये।

सभी लोग भय से आक्रांत हो इधर-उधर भागने लगे। बड़े-बड़े योद्धागण भी उसे बाँधने के लिए उसके सामने जाने का साहस नहीं कर पा रहे थे, इसलिए वे उद्यमरहित हो उदास-चित्त खड़े थे। श्रेणिक राजा भी उसे देख रहे थे, मगर उसे पकड़ने का साहस नहीं कर पा रहे थे, वहीं बलवान जम्बूकुमार भी खड़े थे। निर्भयी कुमार ने उस मदोन्मत्त हाथी को तोते के समान शक्तिहीन समझकर भयरहित हो धैर्य से उसकी पूँछ पकड़ ली।

जिसे वज्र भी क्षति नहीं पहुँचा सकता - ऐसे वज्रशरीरी जम्बूकुमार का वह कीट समान हस्ती क्या बिगाड़ सकता था? उसने कुमार को परास्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किये, मगर गजराज के सभी प्रयत्न विफल चले गये। अन्तत: शत्रु को अजेय जानकर गजराज भी शांत हो गया।

अचिंत्य बल के धनी और वज्रशरीरधारी कुमार के लिए तो उस हाथी को शांत करना चुटकियों का खेल था। उन्होंने उसे निर्मद कर दिया। वे उसके दाँतों पर पैर रखकर शीघ्रता से ऊपर चढ़कर बैठ गये। हाथी का मद चूर-चूर हो गया। इसके बाद वे उसे स्नेहपूर्ण वचन कहकर उसे इच्छानुसार इधर-उधर घुमाने लगे। तब सभी महापुरुषों ने जम्बूकुमार का सत्कार करते हुए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की - "आप महान पुण्यवान हो, बलवान हो, गुणवान हो, आप महान पुरुषों द्वारा पूज्य हो, आपकी गुण-गाथा अकथनीय है।"

नीति-निपुण राजा श्रेणिक भी जम्बूकुमार का बल देख आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने जम्बूकुमार को अपने पास बुलाकर अपने ही साथ सिंहासन पर बिठाया, वे प्रेम से दुलार कर, मस्तक पर हाथ फेरते हुए उसकी प्रसन्नता से प्रशंसा करने लगे, उन्होंने प्रमुदित चित्त से अनेक प्रकार के रत्नादि द्रव्य कुमार को भेंट किये। धन्य है उस रत्नगर्भा माता एवं पिता को, जिसने ऐसे संकटहरण, गुणनिधान महापुरुष को जन्म दिया। जिस हाथी को कुमार ने वश किया, उसी हाथी के मस्तक पर कुमार को बिठाया गया और दुंदुभि बाजों की ध्वनि के साथ व सैकड़ों राजाओं के समूह के साथ कुमार को नगर में प्रवेश कराया गया।

माता-पिता भी बड़े आदर के साथ पुत्र को घर लाए। उन्होंने सुन्दर सिंहासन पर बिठाकर उसका सम्मान किया। वे उसका हाथ से स्पर्श कर विह्वलतापूर्वक उससे पूछते हैं - "हे पुत्र! तेरा इतना कोमल शरीर है, हे बेटा! तूने मेरु पर्वत समान हस्ती को कैसे वश में किया? तुझे कुछ चोट तो नहीं आई? तुम कुशल तो हो न?" इत्यादि।

जम्बूकुमार बोले - "नहीं माते, नहीं! मुझे कुछ नहीं हुआ, मैं पूर्ण कुशल हूँ।"

मित्रमंडली भी इतना बलवान और धैर्यवान मित्र पाकर आनंदित हो उसके पुण्य-प्रताप को सराहने लगी।

जम्बूकुमार का साहस

एक दिन महाराजा श्रेणिक सभा के मध्य सिंहासन पर सूर्यसमान शोभायमान हो रहे थे। उनके समीप अनेक राजा बैठे हुए थे। अनेक सेवक महाराजा के मस्तक पर शीतल जल के समान शीतल पवन देनेवाले चँवर ढोर रहे थे। महामंत्री, सेनापति आदि यथायोग्य स्थान पर बैठे हुए थे। समीप में ही धीर-वीर जम्बूकुमार भी विराजमान थे। उनका शारीरिक तेज सोलह कलाओं से खिले हुए चन्द्रमा के समान तेज बिखेर रहा था, जिसके सामने राजा का शारीरिक तेज भी तेजहीन दिख रहा था। इतने में अकस्मात ही आकाशमार्ग से सभी दिशाओं में प्रकाश करता हुआ, घंटियों की मधुर-ध्वनि युक्त विमान पर आरूढ़ हो एक विद्याधर का आगमन हुआ।

विद्याधर विमान से नीचे उतर कर राजा को नमस्कार करते हुए अपने आने का कारण बतलाते हुए बोला -

"हे राजन्! सहस्र-श्रृंग नाम का एक उत्तम पर्वत है। वहाँ विद्याधरों का वास है। उसी पर्वत पर मैं भी दीर्घकाल से सुखपूर्वक रहता हूँ। मेरा नाम व्योमगति है। हे राजन्! मैं एक आश्चर्यकारी बात कहने आया हूँ। मलयाचल पर्वत के दक्षिण भाग में एक केरल नाम का नगर है। उसका राजा मृगांक है, जो यशस्वी एवं गुणवान है। उसकी मालतीलता नाम की पत्नी है, वह मेरी बहन है। वह भी शीलवान, गुणवान एवं सुवर्ण समान शरीरधारी है। उसकी एक विशालवती नाम की कन्या है जो कि सुन्दरता की मूर्ति है।

उसके योग्य वर के संबंध में एक दिन राजा मृगांक ने असाधारण प्रज्ञा के धनी धीर-वीर गुणगंभीर पूज्य मुनिराज से विनयपूर्वक पूछा - 'हे गुरुवर! मेरी इस पुत्री का वर कौन होगा?' तब मुनिराज बोले - 'हे राजन्! राजगृही का राजा श्रेणिक ही तेरी पुत्री का वर होगा।'

लेकिन हे स्वामी! हंसद्वीप निवासी रत्नचूल नामक विद्याधर ने उस सुन्दर कन्या को अपने लिए वरने की इच्छा प्रगट की। राजा मृगांक ने उसकी बात स्वीकार नहीं की, इस कारण वह क्रोधित हो गया है। उसने अपनी सेना को सजाकर मृगांक राजा के नगर

को नष्ट-भ्रष्ट करना प्रारंभ कर दिया है। उस पापी ने मकान तोड़ डाले हैं, धन-धान्य से पूर्ण ग्रामों को उजाड़ दिया है, वनों को उखाड़ डाला है, किला भी तोड़ डाला है। अधिक क्या कहूँ! सर्वनाश ही कर डाला है। इसलिए राजा मृगांक बहुत ही पीड़ित हो अपने प्राणों की रक्षा हेतु किले के अन्दर ही रह रहा है।

वहाँ की वर्तमान दशा की जानकारी मैंने आपको दे दी। आगे क्या होगा? उसे तो विशेष ज्ञानी ही जान सकते हैं। मृगांक राजा भी युद्ध के लिए उद्यत हैं, शीघ्र ही अपनी शक्ति अनुसार वे भी युद्ध करेंगे, क्योंकि क्षत्रियों का यह धर्म है कि जिस समय युद्ध में शत्रु का सामना हो, उस समय प्राणों की चिंता करना उचित नहीं है। महापुरुष के लिए प्राण नहीं, वरन् मान या यश ही सर्वस्व होता है। जो कोई शत्रु का बल देखे बिना ही, युद्ध किये बिना ही भाग जाता है, उसका यश मलिन हो जाता है। लेकिन जो युद्ध में प्राण तज देते हैं, मगर पीठ नहीं दिखाते, वे यशस्वी धन्य कहलाते हैं।

हे राजन्! मैं उन्हें वचन देकर आया हूँ। मुझे शीघ्र ही वहाँ वापिस पहुँचना है। मुझे विलम्ब करना योग्य नहीं है। मैंने सर्व ही समाचार आपको सुना दिये। अब आप मुझे लौटने की आज्ञा दीजिए।''

विद्याधर रत्नचूल के बल का वर्णन सुनकर राजा श्रेणिक एवं समस्त सभासद गंभीर होकर विचार करने लगे कि भूमिगोचरी राजा युद्ध में विद्याधरों का सामना किसप्रकार करेंगे? सभी को चिंतित देखकर जम्बूकुमार स्वयं ही रत्नचूल का सामना करने की आज्ञा माँगने लगे। तब समस्त सभासद स्वयं को अत्यन्त निर्भार एवं प्रमुदित अनुभव करने लगे, मानो समुद्र के मझधार से तिरकर किनारे आ गये हों, परन्तु कुमार का उद्यमवान एवं शौर्यपूर्ण वचन सुनकर विद्याधर एवं समस्त सभासद भी आश्चर्यचकित थे। विद्याधर भी युक्तिपूर्वक कहने लगा -

''हे बालक! तूने जो कहा, वही क्षत्रियों का उचित धर्म है, परन्तु यह कार्य असंभव है। इसमें तुम्हारी युक्ति नहीं चल सकती, क्योंकि केरल देश यहाँ से सैकड़ों योजन दूर है, वहाँ पहुँचना ही

अशक्य है तो फिर वीर-कार्य करने की बात ही कहाँ रही? दूसरी बात भूमिगोचरी, विद्याधरों का सामना कैसे कर सकते हो? यह कार्य तो जैसे बालक पानी में हाथ डालकर चन्द्रमा पकड़ना चाहता है - ऐसा हास्यास्पद है। जैसे पंगु सुमेरुपर्वत की चूलिका स्पर्श करना चाहे अथवा बिना जहाज के समुद्र पार करना चाहे, वैसे यह आपका अशक्य मनोरथ है कि हम रत्नचूल को जीत लेंगे। जैसे कोई बौना मनुष्य बाहु रहित हो और ऊँचे वृक्ष के फल को खाना चाहे तो वह हास्य का भाजन होगा, वैसे ही आप का उद्यम है। जैसे कौआ उड़कर लोक के अंत को नहीं पा सकता, वैसे हे बालक! रत्नचूल का जीतना अति ही कठिन है।''

इस तरह उस विद्याधर ने अनेक प्रकार से रत्नचूल के बल का प्रताप बताया, लेकिन सभी जन सुनते रहे, कोई बोला ही नहीं, परन्तु उस यशस्वी शूरवीर कुमार से न रहा गया। वे वादी-प्रतिवादी के समान अनेक तर्क-युक्तियों से उत्तर देते हुए बोले - ''हे विद्याधर! किसी को जाने बिना ऐसे वचन कहना तुम्हें योग्य नहीं है। ज्ञान बिना किसी को बलहीन कौन जान सकता है?''

जम्बूकुमार के वचन सुन व्योमगति विद्याधर निरुत्तर रह गया, मौनपूर्वक कुमार का पराक्रम देखने को ठहर गया। राजा श्रेणिक अत्यंत संकोच में पड़ गए, उनसे कुछ कहते न बना, क्योंकि वे कुमार को युद्धक्षेत्र में भेजने के लिए सहमत नहीं थे।

पराक्रमी जम्बूकुमार राजा को संकोच में पड़ा जान गंभीर वाणी से शांतभाव एवं ऊँचे स्वर में कहने लगे - ''हे स्वामी! यह कौन-सा बड़ा कार्य है? यह तो आपके प्रसाद से लवमात्र में ही सिद्ध हो सकता है। सूर्य की बात तो दूर रहो, लेकिन उसकी एक किरण मात्र से अंधकार का अभाव हो जाता है। मेरे समान बालक भी उस काम को क्षणमात्र में सिद्ध कर सकता है, तब फिर आपकी बात का क्या कहना? जिसके पास चारों प्रकार की सेनायें उपलब्ध हैं।''

जैसे सम्यग्दृष्टि आत्मतत्त्व की बात सुनते ही आनंदित हो जाता है, वैसे ही श्रेणिक राजा जम्बूकुमार के वचन सुन आनंदित हो उठे। वे कुमार के वचनों पर विश्वास करते हुए कहने लगे -

"यदि ऐसा है तो श्रेष्ठ ही है। क्षत्रिय धर्म की मर्यादा सदा बनी रहेगी। जिस कार्य से कन्या का लाभ हो और क्षत्रियों का यश हो, उस काम को साधने से ही हम अपना जन्म सफल मानते हैं। हे धीर-वीर वत्स! तुम परंपरा फल के ज्ञाता हो, इसलिए शीघ्र वहाँ जाओ। इस शुभ कार्य में विलंब करना योग्य नहीं है। और हमें भी हमारे करने योग्य कार्य की आज्ञा करो।"

जम्बूकुमार का युद्धार्थ गमन

बलवानों का बल हर कार्य में स्फुरायमान होता है। राजा की आज्ञा पाकर जम्बूकुमार आनंद सहित निर्भय हो अकेले ही केरल देश जाने को तैयार हो गये। कुमार साहसी एवं अपूर्व बल के धनी तो थे ही, उन्होंने तत्काल व्योमगति विद्याधर से कहा - "हे विद्याधर! आप जहाँ रत्नचूल है, वहाँ शीघ्र ही मुझे ले चलो।"

विद्याधर को अभी तक कुमार पर विश्वास नहीं आया था, वह कुमार के आश्चर्यकारी वचन सुनकर उपहास-सा करता हुआ कहने लगा - "हे बालक! तुम चलकर क्या करोगे? मृग का बच्चा तब तक ही चपलता करता है, जब तक केशरी सिंह गर्जना करता हुआ सामने नहीं आता। यह शरीर तब तक ही सुन्दर दिखता है, जब तक यमराज के भयानक दांत नहीं लगते। यह जंगल तब तक ही हरे-भरे तृणादि से शोभता है, जब तक प्रचंड अग्नि की ज्वाला वन में नहीं फैलती। उसी तरह हे बालक! तेरा बल-प्रताप तब तक ही है, जब तक रत्नचूल के बाणों से वह जर्जरित न किया जावे।"

विद्याधर के ऐसे क्रोध-उत्पादक वचन सुनकर यद्यपि जम्बूकुमार के अन्दर क्रोध उमड़ आया, मगर उन्होंने शांतभाव से विद्याधर से कहा - "हे आकाशगामी विद्याधर! आपका कहना ठीक नहीं है, आप अभी देखेंगे कि बालक क्या करेगा। ज्ञानीजनों की यह सनातन रीति है कि वे पहले अपनी धीरता का परिचय देते हैं, पीछे वीरता का। युद्ध के मैदान में उतरने वाले मुझ जैसे योद्धा का मनोबल तोड़ने में तुम जैसे विद्याधर के अपमानजनित शब्द भी विफल हैं। हे विद्याधर! जगत में तीन प्रकार के प्राणी हैं - उत्तम, मध्यम

और जघन्य। उत्तम वे हैं, जो कहते नहीं और करके बताते हैं। मध्यम वे हैं, जो कहते भी हैं और करके भी दिखाते हैं। तथा जघन्य वे हैं, जो कहते तो हैं, परन्तु करते नहीं हैं।''

राजा श्रेणिक भी विद्याधर के वचन सुनकर कहने लगे - ''हे विद्याधर! तुम्हारा कुमार के संबंध में ऐसा कहना बिलकुल भी उचित नहीं। तुम्हारे विचार अनभिज्ञता पूर्ण हैं। जिस सिंह को भीमकाय हाथी आदि भी नहीं मार सकते, उस सिंह को अकेला अष्टापद मार डालता है। जिस यम ने सर्व जगत को ग्रासीभूत कर लिया, उस यम को अकेले जिनेन्द्र ने जीत लिया है। प्रचंड दावाग्नि को भी मेघ का जल अकेला ही बुझा देता है। मिथ्या अंधकार को सम्यग्ज्ञान की एक किरण ही नष्ट कर देती है।

जगत के बहुधा प्राणियों को क्रोधाग्नि जला देती है, मगर महात्माओं का क्षमा-जल उसे एक क्षण में शमन कर देता है। सूर्य एक अकेला ही गगनमंडल में उदित होता है। क्या वह सर्व जगत के अंधकार को दूर नहीं कर देता? अनेक श्यालों को एक अकेला सिंह ही परास्त कर देता है।

इसी प्रकार जो वायु मेघ को उड़ा देती है, वह ऊँचे सुमेरुपर्वत को नहीं उड़ा सकती है। अत: हे विद्याधर! सुमेरु पर्वत के समान जम्बूकुमार के सामने प्रचंड वायु के समान रत्नचूल भी टिक नहीं पायेगा।''

पश्चात् श्रेणिक राजा के वचनों का स्वागत करते हुए विद्याधर ने आदर सहित अनुपम बलधारी जम्बूकुमार को अपने दिव्य विमान में बिठाकर शीघ्र ही आकाश मार्ग में वायु-वेग से चलकर अपने इच्छित स्थान केरल नगर में पहुँचा दिया। वहाँ पहुँचते ही सेना का कोलाहल सुन कुमार ने विद्याधर से कोलाहल का कारण पूछा।

तब विद्याधर ने कहा - ''हे कुमार! यहाँ आपके शत्रु रत्नचूल की सेना डेरा डालकर पड़ी हुई है। यह कोलाहल उसी का हो रहा है। रत्नचूल के यहाँ आने के कारण से तो आप परिचित हैं ही। हे कुमार! इसके भय से राजा मृगांक तो किले के भीतर बैठा है। अनेक विद्याधर इस रत्नचूल के सेवक हैं। वह पहले अनेक

विद्याधरों को जीत चुका है। हे कुमार! इसको जीतना दुर्निवार है।''

विद्याधर के वचन सुनते ही जम्बूकुमार अति क्रोध में आकर बोले - ''हे विद्याधर! तुम यहीं विमान रोक दो और तुम यहीं रुको, मैं रत्नचूल से मिलकर आता हूँ कि रत्नचूल का कैसा उद्धत बल है?''

जम्बूकुमार विमान से उतरकर सीधे ही शत्रु-सेना में निर्भय हो चले गये और कौतुकवश इधर-उधर सेना को देखने लगे। सेना के योद्धा कामदेव के समान सुन्दर कुमार को बार-बार देखकर आश्चर्य-चकित हो आपस में बातें करने लगे - ''यह कौन है? कोई इन्द्र है, धरणेन्द्र है या कामदेव है, जो हमारी सेना को देखने आया है?''

कोई कहता है - ''यह महा भाग्यवान तथा लक्ष्मीवान सेठ है, जो रत्नचूल की सेवा के लिए आया है।

कोई कहता है - ''यह कोई विद्याधर है, जो अपने राजा की सहायता के लिए आया है।''

कोई कहता है - ''यह कोई राजा है, जो अपना कर देने को तथा स्नेह बताने को आया है।''

कोई कहता है - ''यह कोई छलिया धूर्त वेषधारी सुन्दर पुरुष है।''

इस तरह आपस में बातें तो कर रहे हैं, मगर किसी ने भी ऐसा साहस नहीं जुटा पाया कि सीधे कुमार से पूछ लें। अतः कुमार सीधे राजद्वार पर पहुँच गये।

जम्बूकुमार का रत्नचूल से संवाद

वहाँ जाकर जम्बूकुमार बोले - ''द्वारपाल! भीतर जाकर विद्याधर रत्नचूल को मेरा यह संदेशा दे दो कि राजा मृगांक का दूत आया है और वह आपसे कुछ शांतिप्रद बातें करना चाहता है।''

द्वारपाल ने शीघ्र ही अन्दर जाकर राजा को नमन करते हुए कहा - ''हे राजन्! राजा मृगांक का दूत आपसे मिलने हेतु द्वार पर खड़ा है, जो आपके दर्शन कर कुछ बातें करना चाहता है।''

रत्नचूल ने उसे बुलाने की आज्ञा दे दी। राजा की आज्ञा पाकर द्वारपाल शीघ्र ही जम्बूकुमार के पास आया और कुमार को भीतर ले गया। जम्बूकुमार अपनी कांति से तेज को फैलाते हुए निर्भय होकर भीतर चले गये और राजा को नमस्कार किये बिना ही सामने खड़े हो गये।

रत्नचूल उसे आश्चर्य-युक्त नेत्रों से देखने लगे और अन्दर ही अन्दर सोचने लगे - "यह कैसा दूत है, जो राजोचित विनय को भी नहीं जानता! कुछ कहे बिना खम्भे के समान खड़ा है। मालूम पड़ता है कि कोई देव ही मेरे बल की परीक्षा करने आया है।"

कुमार का रूप-लावण्य देखकर सभी लोगों को देव का भ्रम हो जाया करता था, क्योंकि इतना सुन्दर कोई दूत कभी किसी ने देखा ही नहीं था। वास्तव में मोक्षगामी व्यक्तियों के साथ पुण्यरूपी लक्ष्मी तो उनकी दासी बनकर घूमती है, क्योंकि पुण्य भी पवित्रता का सहचारी हुआ करता है।

रत्नचूल राजा भी दुविधा के झूले में झूलने लगा - "पता नहीं यह देव है या दूत? मित्र है या शत्रु? इसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय?"

अत: दुविधा में फँसा रत्नचूल अचानक उसका परिचय पूछने लगा - "आप किस देश से आये हैं और किस काम के लिए मेरे पास आये हुए हैं?"

जम्बूकुमार बोले - "मैं नीतिमार्ग का आश्रय करके तुम्हें समझाने के लिए से यहाँ आया हूँ।"

रत्नचूल बोला - "कहिए दूत! तुम क्या नीतिमार्ग सिखाने आये हो।"

तब दूत बने जम्बूकुमार बोले - "राजा खोटे हठग्राही नहीं हुआ करते। दुराग्रह से राजा इस लोक एवं पर लोक दोनों ही लोकों में निंदा का पात्र और दु:ख का भाजन बनता है। इससे तुम्हारा अपयश तो होगा ही और दुर्गति के कारण रूप पाप का बंध भी होगा। इस जगत में बहुत-सी एक से एक सुन्दर कन्यायें हैं। तुम्हें इसकी ही हठ क्यों है? किसी दूसरे की चीज को बलजबरी

से लेना - हे राजन्! सर्वथा अनुचित है। यदि तुम अपनी सेना के बल से इस अनुचित कार्य में सफल हो जाओगे - ऐसा अभिमान रखते हो तो यह तुम्हारा भ्रम है, तुम बहुत बड़े अंधकार में हो। योग्य राजा मिथ्या अभिमान से सफल नहीं होते, वे तो अपनी न्यायनीति से सफल होते हैं।

जम्बूकुमार का धर्म-नीति पूर्ण संबोधन

हे विद्याधर! इस संसार-वन में अनंत जीव अपने स्वरूप को भूलकर, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की विराधना कर, पर में कर्तृत्व बुद्धि के कारण अनंत कर्म का संचय करते हैं और उसके फल में अपरंपार दुःखों को भोगते हुए भ्रमण करते हैं। कहा भी है -

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुर्द्वयाविष्कृतकार्यलिंगा:।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्त: संहत्य कार्येष्विति साध्ववादि:॥ ३३॥
विभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्यं शिवं वांछति नास्य लाभ:।
तथापि बालो भयकामवश्यो, वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादी:॥ ३४॥

भावार्थ – भवितव्यता की शक्ति को कोई नहीं लाँघ सकता है। कार्य दो कारणों से होता है - पुरुषार्थ से और पूर्व पुण्योदय से। हे नाथ! आपने ठीक ही बताया है कि कोई इस बात का अहंकार करे कि मैं यह कार्य करके ही रहूँगा तो वह इस पुण्योदय की सहायता के बिना नहीं कर सकता। कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता, अपने मरण से डरता ही रहता है, फिर भी मरण से कोई बचता नहीं। प्रत्येक प्राणी नित्य भला चाहता है, परन्तु सबका भला नहीं होता। जब पुण्योदय से काम होता है और पापोदय से विनाश होता है, तब अज्ञानी वृथा ही मरण से डरता है और इच्छाओं में जलता है - हे जिनेन्द्र! ऐसा आपका यथार्थ कथन है।

कोई अपने को कितना ही बलवान योद्धा मान ले, परन्तु उसे उससे भी बलवान मिलता ही है। **'सेर को सवा सेर'** मिलते ही हैं - ऐसी ही संसार की स्थिति है। कोई अहंकार से अपने को कुछ भी मानता रहे, परन्तु इस जगत में सबको भक्षण करने वाला यमराज सदा तैयार रहता है।

अरे विद्याधरों के स्वामी रत्नचूल! तुम ऐसे खोटे विचारों को तजो! इनसे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है। उल्टा इनसे तुम अपयश के ही भागी होगे। बलवान मानव भी यदि कुमार्ग में चलकर कामी हो जाता है तो उसे नष्ट होते देर नहीं लगती। रावण आदि का चरित्र जगत में प्रसिद्ध है। इसलिए हे विद्याधर! तुम अब उत्तम विचारों में अपना मन लगाओ। जब मृगांक ने अपनी कन्या श्रेणिक राजा को देना निश्चित कर लिया है, तब वह तुझे कैसे दी जा सकती है? - यह बात अपयश की ही होगी। यदि युद्ध होगा तो यह क्षत्रिय का धर्म नहीं है कि अपने प्राणों की रक्षा के लिए युद्ध से वापिस भाग जाये। अत: कौन ऐसा बुद्धिमान है, जो अपयशरूपी विष का पान करेगा? हे विद्याधर! कुविचार एवं कुआचरण छोड़ कर नीतिमार्ग अपनाना चाहिए और निंदा योग्य कार्य या वचन भी नहीं कहना चाहिए।''

इसतरह श्री जम्बूकुमार ने हितकारी वचनों के पुष्पों से गूँथी हुई अति शीतल माला रत्नचूल को पहनाई, परन्तु जैसे स्त्री के विरह में शीतल पुष्पमाला भी उष्ण भासती है, वैसे ही विद्याधर को वह तापकारी हो गई।

क्रोधयुक्त रत्नचूल का जवाब

कुमार की बातें सुनते ही रत्नचूल क्रोध से भभक उठा। नेत्र लाल हो गये, ओंठ काँपने लगे और क्रोध से जलती हुई उसकी वाणी निकली - ''हे बालक! तू मेरे यहाँ दूत बनकर आया है। अत: तू बालक होने से मारने योग्य नहीं, परन्तु दुष्ट! अब तेरी दूसरी अवस्था भी हो ही नहीं सकती। तू अपने स्वामी के कार्य का विनाशकारक है और बैर को बढ़ाने वाले वचनों को कहते तुझे हुए जरा भी लज्जा नहीं आती। तू इतना भी नहीं जानता कि तुझे क्या कहना चाहिए और क्या नहीं। न तुझे किसी के बल-अबल का विचार है। बस, बावलों की भाँति ढ़ीठता से जो मन में आया सो बकता ही जाता है।

अरे! उल्लू की शक्ति नहीं कि वह सूर्य का सामना कर सके। क्या जीरे का बीज सुमेरुपर्वत को भेद सकता है? तुझे ऐसे वचालतापूर्ण

वचन नहीं बोलना चाहिए। तेरे राजा मृगांक या राजा श्रेणिक कोई भी युद्ध में मेरा सामना नहीं कर सकता। जानता नहीं क्या? हम विद्याधर हैं और वे भूमिगोचरी हैं। वे हमारे सामने क्या सामर्थ्य रखते हैं? जा, अधिक मत बोल, मौन रह। मेरे साथ जिसे युद्ध करना हो, वह आ जावे मेरे सामने।'' - इतना कहकर रत्नचूल क्षोभ को छोड़कर शांति से बैठ गया।

जम्बूकुमार का पुनः संबोधन

परम पवित्र वीतरागी धर्म के धारक, वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी, प्रचंड पराक्रमी, अत्यन्त निर्भयी जम्बूकुमार मेघध्वनि समान गंभीर वाणी से कहने लगे - ''हे रत्नचूल विद्याधर! तेरा यह सम्पूर्ण कथन तेरे अभिमान को पुष्ट करनेवाला है, लेकिन अनुमानादि से बाधित है। देखो, यद्यपि रावण विद्याधर था, तथापि उसे भूमिगोचरी रामचन्द्रजी ने युद्ध करके अपने ही बल से मार डाला। यद्यपि काक भी आकाश में उड़ता है, परन्तु जब वह बाणों से छिद जाता है, तब भूमि पर ही आ गिरता है।''

कुमार के ऐसे वचन सुनकर रत्नचूल के क्रोध का ठिकाना न रहा। उसने अपने हाथ में तलवार लेकर अपने आठ हजार योद्धाओं को चीखते हुए आज्ञा दी - ''इस दूत को मार डालो! टुकड़े-टुकड़े कर डालो!!''

जम्बूकुमार के बल से अनभिज्ञ सभी योद्धाओं ने अपने-अपने हथियारों का प्रहार जम्बूकुमार पर करना प्रारंभ कर दिया। उन सभी के बीच अस्त्र-शस्त्र रहित अकेले जम्बूकुमार ने अपनी भुजाओं एवं पैरों के प्रहार से कितनों को ही क्षण मात्र में यमपुर पहुँचा दिया। तभी व्योमगति विद्याधर ने अपना तीक्ष्ण खड्ग कुमार को अर्पण करते हुए कहा - ''आप विमान पर चढ़ जाइये!''

लेकिन कुमार ने उसकी बात पर कुछ ध्यान ही नहीं दिया। वह योद्धाओं के साथ लड़ने में अपने शरीर को तृण के समान समझता था। जैसे ब्रह्मचारी के लिए स्त्री तृण समान होती है, उसीप्रकार योद्धा को मरण भी तृण के समान होता है।

जम्बूकुमार का खड्ग युद्ध

पुनः व्योमगति विद्याधर ने जम्बूकुमार से खड्ग लेने का निवेदन किया, तब जम्बूकुमार खड्ग को हाथ में लेकर विमान पर चढ़ गये। लेकिन वे अपने मन में विचारते हैं - "वीरों की वीरता प्राणियों को प्राणरहित करने में नहीं है। अतः मेरी वीरता तो शुक्लध्यान की खड्ग से कर्मशत्रु को जीतने में हैं।"

अरे रे! यह क्या? रत्नचूल और जम्बूकुमार का घमासान युद्ध होने लगा। देखो, जम्बूकुमार युद्ध के मैदान में भी दयाभाव पूर्वक धीमी गति से खड्ग का प्रहार करते हैं, परन्तु उस खड्ग के प्रहार के सामने बिचारे हीन संहनन के धारी विद्याधर और उसकी सेना भला कैसे जीवित रह सकती है? अतः जो भी उससे लड़ता वह मृत्यु की ही शरण ग्रहण करता, परन्तु व वज्रशरीरी जम्बूकुमार पर किसी भी प्रकार के प्रहार से कुछ भी असर नहीं कर पा रहे हैं।

इतने ही में किसी गुप्तचर ने जाकर मृगांक राजा को कहा - "हे राजन्! आपके पुण्य-प्रताप से कोई महान योद्धा आया है, जो शत्रु की सेना को नष्ट-भ्रष्ट करने में वज्र के समान है। वह बड़ी चतुराई से युद्ध कर रहा है। या तो वह आपका कोई बन्धु है या पूर्व-जन्म का मित्र है या श्रेणिक राजा ने कोई वीर योद्धा भेजा है?"

गुप्तचर द्वारा दिये गये समाचार को सुनकर राजा मृगांक आनंदित हो गया, तब वह भी अपनी सभी प्रकार की सेना को साथ में लेकर नगर के बाहर निकला। सेना के नगाड़ों की ध्वनि सुनकर रत्नचूल मृगांक को आया जान क्रोधाग्नि से भड़क उठा। दोनों में भयंकर प्रलयकारी युद्ध छिड़ गया। सेनाओं का सेनाओं के साथ, हाथियों का हाथियों के साथ, घोड़ों का घोड़ों के साथ, रथों का रथों के साथ और विद्याधरों का विद्याधरों के साथ युद्ध होने लगा। रुधिर की धारा तो समुद्र बनकर बहने लगी।

हाथियों एवं घोड़ों के खुरों से इतनी अधिक धूल उड़ रही थी कि वहाँ रात्रि-दिन का भेद ही नहीं दिख रहा था। रथों के

चलने की आवाज, हाथियों की चिंघाड़ एवं घोडों की हिनहिनाहट से नभ भी बहरा हो रहा था। धनुष्यों की टंकार, तलवार, मुद्गर, लोहदंड आदि शस्त्र भी सहस्र खंड हो भूमि में जा धँस गये थे। कितने ही योद्धा कमर टूट जाने से निष्क्रिय पड़े थे, कोई पैर से लंगड़ा हो गया था तो कोई हाथ से लूला। इतना ही नहीं, कहीं तो मात्र सिर-विहीन धड़ और कहीं धड़-विहीन सिर पड़े थे।

युद्धस्थल का हृदय-विदारक एवं वैराग्योत्पादक दृश्य देख जम्बूकुमार का अन्तर्मन एक ओर दया से भर आता था तो दूसरी ओर संयोगों की अनित्यता, अशरणता, अशुचिता एवं पृथकुता के विचार से वैराग्यरस में डूब जाता था। उनका अन्तःकरण संसार-देह-भोगों से विरक्ति के भावों में डूबकर सोचने लगा - "स्त्रियों की प्राप्ति एवं उनके भोगों को धिक्कार हो, धिक्कार हो! अरे, रे! एक स्पर्शन इन्द्रिय के अनंत बाधाजनक एवं अपार हिंसाकारक विषयों के लिए यह प्राणी कितना निर्दयी हो अगणित प्राणियों का वध करता है! अनेकों माता-बहनों को विधवा करता है। अनेक निरपराधी बालकों को अनाथ करता है। उनको मिलनेवाली सूखी रोटियों के टुकड़ों को भी यह पापी प्राणी छीन लेता है। उनको घर-द्वार रहित कर देता है। हे प्रभो! धिक्कार है! ऐसे राज्यपद को, धिक्कार है! इन इन्द्रिय-विषयों को!!

एक स्त्री की प्राप्ति में अपरंपार दुःख-संकटों को देख कुमार का हृदय उसी क्षण स्त्रियों से विरक्त हो गया। इसतरह कषायों के प्रलयकारी नृत्य ने कुमार के कोमल हृदय को झकझोर डाला।

पुनः जब उनका ध्यान युद्धक्षेत्र की तरफ गया तो मृगांक से अपराजित शत्रु को देख जम्बूकुमार रत्नचूल के सामने आये और लीलामात्र मे ही उसका रथ तोड़ दिया। रत्नचूल भूमि पर आ गिरा। हाथी पर चढ़े मृगांक ने ज्यों ही रत्नचूल को भूमि पर गिरा देखा, वह तुरन्त हाथी से नीचे उतरकर उसे बाँधने के लिए दौड़ा, लेकिन उसके पहले ही जम्बूकुमार ने रत्नचूल को दृढ़ बंधनों से कस लिया। राजा रत्नचूल के बंदी होते ही उसकी शेष बची सारी सेना भी भाग गई।

जम्बूकुमार का पराक्रम देखकर राजा मृगांक एवं विद्याधर की पूरी सेना में जम्बूकुमार का जयघोष होने लगा। राजा मृगांक बोला

- "कुमार! आप धन्य हो। आप कामदेव सदृश अद्भुत रूप के धारी हो, महा बुद्धिमान हो, आप की जय हो। आज आपने क्षत्रिय धर्म के ऐश्वर्य को अच्छी तरह प्रगट कर दिखाया है।"

केरल नगर के राजा की सेना में जीत के नगाड़े बजने लगे। तब व्योमगति विद्याधर ने जम्बूकुमार का मृगांक से परिचय करा दिया। राजा मृगांक को अपनी जीत का हर्ष समाये नहीं समा रहा था, अतः वह पुनः पुनः जम्बूकुमार का यशोगान करते हुए बोला - "हे कुमार! आप अतुल बल के धारी हो। आपकी धीरता एवं वीरता अवर्णनीय है। आपका शांतरस गर्भित वीररस जगत को आश्चर्यचकित कर देता है। आपकी वृत्ति एवं जीवनचर्या साधुवाद की पात्र है। आप कोई लोकोत्तर पुरुष जान पड़ते हो।"

इसतरह अनेक प्रकार से राजा मृगांक के हृदयोद्गार प्रस्फुटित हो रहे थे।

जम्बूकुमार का वैराग्यपूर्ण आत्मालोचन

जम्बूकुमार ने जब युद्धक्षेत्र में कषायों से आत्मघात एवं प्राणिघात का भयानक दृश्य देखा तो वे पश्चाताप के सागर में डूब गये। सोचने लगे - "जल स्वभाव से शीतल ही होता है। वह अग्नि के संसर्ग से उष्णता का स्वाँग धारण कर लेने पर भी वास्तव में शीतलता का त्याग नहीं करता है। उसीप्रकार आत्मा स्वभाव से तो शांत ही है, पर कषायों से अशांत हो जाता है, इसलिए ज्ञानी पुरुषों ने दुर्गति के कारणभूत अज्ञान एवं मानादि कषायों को त्याग ही दिया है।

अरे रे! जो प्राणी इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होते हैं, वे उसी तरह मरते हैं, जिस तरह पतंगा स्वयं आकर अग्नि में पड़कर मर जाता है। बिना पुण्य-उदय के विषयों का मिलना दुर्लभ है और यदि मिल भी गये तो उनके भोगों की आग दिन-दूनी रात-चौगुनी दहक-दहक कर जलाती ही रहती है। किंपाकफलवत् ये विषय-भोग मृत्यु तक का वरण कराते हैं। ऐसा होने पर भी अरे रे! ये बड़े-बड़े राजपुरुष भी इनका सेवन क्यों करते हैं? आश्चर्य है! महा आश्चर्य है!! लेकिन आत्मानंद से अपरिचित पुरुष मदांध हों! दुःख भोगें

तो इसमें आश्चर्य भी क्या है? सचमुच कोई आश्चर्य नहीं!

निज स्वरूप की विराधना से उत्पन्न हुआ यह मोहरूप पिशाच बड़ा भयंकर है। इससे पीछा छुड़ाना कठिन है। निजस्वरूप को भूलकर यह प्राणी पर को अपना मानकर मृग-मरीचिका के समान विषयों के सन्मुख दौड़ता है। यहाँ से सुख मिलेगा, वहाँ से सुख मिलेगा; परन्तु कुछ भी हाथ नहीं आता, तब आकुल-व्याकुल हो दुःखों के सागर में गोते लगाने लगता है। इस मिथ्या अंधकार का नाशक उपाय एकमात्र चैतन्यमय निज आत्मा की आराधना है तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की उपासना है।

अरे रे! धिक्कार है मेरी चतुराई को, जो दूसरों को तो उपदेश दे, पर अपने आत्महित का नाश करे। ऐसे नेत्रों से क्या लाभ, जिनके होते हुए भी व्यक्ति गड्ढ़े में गिर जाता है? उस ज्ञान से भी क्या लाभ, जिससे ज्ञानी होकर भी जीव विषयों में फँसता रहे? अरे मैं भी तो ज्ञानी हूँ, मैंने यह क्या किया? मेरे ऊपर तो कोई राज्य का भार भी नहीं था। मैंने बड़ा अनर्थ किया, जो परोपकार हेतु कषाय में स्वयं जला और हजारों प्राणियों का जीवन नष्ट किया।

धिक्कार है! धिक्कार है!! ऐसे यश को, जो इतने हिंसाकर्म से प्राप्त हो। अरे दया! तू कहाँ भाग गई? हे हृदय! तुम पुष्प से पाषाण कैसे बन गये? भो स्फटिक! तुम पर ये लाल, काले रंग कैसे चढ़ गये? तुम क्रोध से काले और मान आदि से लाल-हरे कैसे बन गये। हे चैतन्य प्रभु! तुम अपनी प्रभुता को भूलकर पामर क्यों बन गये? तुम तो आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद के आस्वादी हो, तुमने कषाय का स्वाद क्यों चखा? धिक्कार है इस गृहस्थ दशा को?"

इस प्रकार जम्बूकुमार मन ही मन अपनी खूब निंदा-गर्हा करते रहे। जिस समय जम्बूकुमार अपने कषायचक्र एवं कषाययुक्त शारीरिक क्रियाओं की आलोचना कर रहे थे, उसी समय बंधनग्रस्त रत्नचूल मन ही मन जम्बूकुमार की प्रशंसा कर रहा था - "गुण सदा निर्गुण होने पर (एक गुण में दूसरा गुण न होने पर) भी वे गुण किसी द्रव्य के ही आश्रय से पाये जाते हैं। हे स्वामी! आपमें

ऐसे-ऐसे महान गुण हैं, वे आप जैसे गुणवानों के सहारे ही रहते हैं। दूसरे लोग पर की सहायता से जय प्राप्त करने पर भी अभिमान से उद्धत हो जाते हैं, मगर आपने बिना किसी की सहायता से अपने ही पराक्रम से विजय प्राप्त की है, फिर भी आप मदरहित एवं मानरहित हैं। लोक में भी कहावत है कि फलों से लदे हुए वृक्ष ही नमते हैं, फल रहित नहीं। हे सौम्यमूर्ति! आपके समान कौन महापुरुष है, जो विजय-लाभ करके भी शांतभाव को धारण करे?''

इस तरह अन्य अनेक राजागण भी परस्पर में जम्बूकुमार का ही गुणगान कर रहे थे। इसीसमय अकस्मात् व्योमगति विद्याधर, राजा मृगांक को संबोधित कर बोल उठा - ''हे स्वामी! आपकी विजय हुई, आप पुण्य-प्रतापी हैं। आपने मदांध रत्नचूल को जीतकर अपनी यशपताका फहराई है। हे जम्बूकुमार! आपका भी पौरुष धन्य है, आप वीरों में भी प्रशंसनीय हैं, आपकी भी जय हो। आपका रणकौशल भी प्रशंसनीय है। मैंने तो आपकी जैसी वीरता सुनी थी, वैसी ही आज प्रत्यक्ष देख ली।''

विद्याधर द्वारा मृगांक की झूठी प्रशंसा राजा रत्नचूल को सहन नहीं हुई। वह क्रोधित होकर बोला - ''हे विद्याधर! तेरी इस मिथ्या प्रशंसा में क्या सत्य है? सच है चापलूस लोग बड़े जनों की मिथ्या प्रशंसा कर वृथा उनका अहंकार बढ़ाते हैं। क्या सुनीतिज्ञ पुरुष उपकारी का उपकार भूलते हैं? कभी नहीं। रत्नचूल को अपनी हार का जितना दुःख नहीं था, उससे अधिक मृगांक की मिथ्या प्रशंसा का दुःख हुआ। मैं गुणरहित को गुणी नहीं मान सकता, परन्तु ये तो प्रत्यक्ष ही गुणहीन दिखता है, जो गुणवान (जम्बूकुमार) को गुणवान जाने बिना स्वयं बलमद से गर्वान्वित हो रहा है।''

मुझे इसका गर्व चूर-चूर करना चाहिए - ऐसा विचार कर रत्नचूल बोला - ''हे व्योमगति और हे मृगांक! सुनो! यह विजय तुम्हारे पौरुष की नहीं है। तुमने धीर-वीर-गंभीर कुमार के बल पर ही विजय प्राप्त की है। तुममें मेरा सामना करने का साहस नहीं है। तुम कायर हो, सियार हो, तुम्हारी बाहुओं में दम हो तो अब भी मैदान में पुनः आ जाओ, मैं तुम्हारे गर्व को चूर-चूर करने

में अभी भी समर्थ हूँ।''

- ऐसे मर्मांतक वचन सुनकर व्योमगति अपनी तलवार निकालकर रत्नचूल को मारने दौड़ा, तब जम्बूकुमार ने उसे ऐसी उद्दण्डता करने से रोका। तब अत्यन्त क्रोध से जिसके नथुने अत्यंत फूल रहे थे तथा बाहुयें फड़क रही थीं, ऐसा मृगांक चीखता हुआ कुमार से बोला - ''हे कुमार! आप इस अधम रत्नचूल को बंधनमुक्त कर दो, मैं इसे अभी इसकी उद्दण्डता का मजा चखाकर इसे यमलोक पहुँचाता हूँ।''

तब जम्बूकुमार अत्यन्त न्यायपूर्ण एवं शांतिपूर्ण वचनों से समझाने की चेष्टा करने लगे, परन्तु मदांध न माना तो उन्होंने रत्नचूल को मुक्त कर दिया। तब रत्नचूल एवं मृगांक में घमासान युद्ध हुआ एवं देखते ही देखते मृगांक परास्त होकर भूमि पर गिर गया तथा रत्नचूल के द्वारा बाँध लिया गया। इस प्रकार रत्नचूल अपने को विजयी मानकर मृगांक को दृढ़ बंधनों से बाँधकर रणक्षेत्र से लेकर भागने लगा।

तब तुरन्त जम्बूकुमार बोले - ''रे मदांध मूढ़! मैं मृगांक के साथ हूँ, मेरे रहते हुए तू मृगांक को लेकर भागने की कुचेष्टा कर रहा है। जरा अपने बल को देख? क्या शेषनाग के सिर की उत्तम मणि को बेजान कीट ले जा सकता है? क्यों अपने ही हाथ मृत्यु को बुला रहा है? हस्तविहीन होकर भी महामेरु को हिलाने का साहस! मानो मृगों द्वारा सिंह की शय्या पर सोने का साहस करने जैसा हास्यास्पद कार्य तू कर रहा है। लगता है तेरी यह मदांध बुद्धि तुझे शेष जीवन भी संकटों से जूझने को बाध्य कर रही है। बड़े ही आश्चर्य एवं लज्जा की बात है कि परास्त योद्धा भी क्या इतना दु:साहस कर सकता है?''

जम्बूकुमार के अपमानजनित वचनों से रत्नचूल एकदम कुपित होकर बोला - ''आ जाओ कुमार! अब हम एक बार फिर से युद्ध कर लें।''

जम्बूकुमार दयामयी हृदय वाले तो हैं ही, वे व्यर्थ में सेना का संहार नहीं चाहते, इसलिए उन्होंने कहा - ''सेनाओं का युद्ध नहीं होगा, यदि तुझे अकेले ही युद्ध करना हो तो मैं भी तैयार

हूँ। देखता हूँ तेरे दृढ़ साहस का बल।''

जम्बूकुमारं की यह बात रत्नचूल को सहसा मान्य नहीं हुई, इसलिए कुछ समय तक वह दुविधा में पड़ा रहा। कषाय का वेग जब कुछ मंद पड़ा, तब रत्नचूल को लगा - ''मैं भी अजेय योद्धा हूँ। मुझे भी सेना की जरूरत नहीं है, मैं अकेला ही इसके साथ युद्ध कर सकता हूँ।''

रत्नचूल-जम्बूकुमार का पुनः युद्ध

दयालु वीर जम्बूकुमार पुनः युद्ध क्षेत्र में आये। वहाँ का दृश्य उनकी आँखें देख नहीं पा रही हैं। कहीं मात्र सिर पड़े हैं, कहीं मात्र हाथ-पैर पड़े हैं, कहीं मात्र धड़ पड़े हैं, तो कहीं मात्र अँतड़ियाँ पड़ी हैं। चारों तरफ खून ही खून दीख रहा है। कुमार के अन्तर में एक ओर वैराग्य उमड़ रहा है, जो उनके मन को युद्ध करने से रोक रहा है; परन्तु दूसरी ओर वीर योद्धा की भुजाएँ फड़क रही हैं और कह रही हैं कि मानी के मान का मर्दन होना ही चाहिए।

रत्नचूल एवं जम्बूकुमार दोनों वीर योद्धाओं का अनेक प्रकार के शस्त्रों से युद्ध होने लगा। वज्रशरीरी जम्बूकुमार को अजेय जान रत्नचूल ने कुमार पर नागबाण छोड़ा, परन्तु कुमार ने उसे लीलामात्र में गरुड़ बाण से नष्ट कर दिया। उसे नष्ट होते देख रत्नचूल क्रोधाग्नि से धधक उठा और उसने अग्निबाण छोड़ा, परन्तु हिम-समान शीतल हृदयी कुमार ने शीतल जल-वर्षा से उसे भी शांत कर दिया और रत्नचूल को तोमर शस्त्र मारा तो रत्नचूल ने उसे हाथ में उठाकर घुमाते हुए कुमार पर प्रहार किया, परन्तु कुमार ने शीघ्र ही वाणों से उस शस्त्र के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। बिजली के समान वे घातक टुकड़े रत्नचूल के कंधों पर जा गिरे, इसलिए रत्नचूल पृथ्वी पर आ पड़ा। रत्नचूल ने फिर से एक अन्य शस्त्र हाथ में उठाया, उसी समय जम्बूकुमार ने उसे मुटिठयों की मार से चूर्ण कर बंदी बना लिया और मृगांक को बंधन मुक्त कराया। जम्बूकुमार की विजय की खुशहाली में देवों ने भी देवलोक से पुष्पों की वर्षा की। केरल में बाजों की ध्वनि के साथ जयनाद भी होने लगा।

जम्बूकुमार का केरल प्रवेश

राजा मृगांक ने जम्बूकुमार के द्वारा किये गये उपकार से उपकृत हो अनेक राजाओं एवं सभी प्रकार की सेनाओं सहित वादित्रों की ध्वनियों के साथ यशोगान करते हुए कुमार को हाथी पर बिठाकर केरल नगर में प्रवेश कराया। उनकी धीर, गुण-गंभीर मुख-मुद्रा एवं अतुल बल को प्रत्यक्ष देखकर व्योमगति विद्याधर आनंद से उछलने लगा। नगर की युवतियाँ अपने झरोखों में से जम्बूकुमार के ऊपर पुष्प बरसाने लगीं, मंगल गीतों के साथ-साथ नाचने लगीं। सम्पूर्ण सेना हर्षायमान अपने-अपने शस्त्रों सहित नाचने लगीं। चमकती हुई तलवारों का नृत्य ऐसी किरणें बिखेर रहा था, मानो चन्द्र-बिम्ब का स्वागत तारामंडल कर रहा हो।

कुमार के मित्रगण में कोई उनकी शांतमुद्रा से उनके दयामयी भावों को निरख रहे हैं तो कोई उनकी स्वाभाविक उदासीनता को देख रहे हैं। किन्हीं विचक्षण व्यक्तियों को ऐसा भय लगने लगा कि यह कषायगर्भित हिंसा का भयानक दृश्य कुमार को वैराग्य की राह न बता दे, नहीं तो हम लोग श्री विहीन, धर्म विहीन होकर कैसे जीवेंगे? कोई अपने राज्य को और कोई अपने सौभाग्य को रक्षित जानकर प्रमुदित हो रहे हैं। कोई उसे पराक्रम की मूर्ति देखता है तो कोई धैर्य की मूर्ति देखता है। कोई कुमार एवं उनके माता-पिता की प्रशंसा करता है तो कोई कुमार के राजा की प्रशंसा करता है। कुमार शांत भाव से सबके ज्ञाता-दृष्टा हैं।

इतने में ही राजमहल का द्वार आ जाता है, जो मणि-रत्नों के तोरणों एवं दीपमालाओं से सुशोभित है। जम्बूकुमार ने उनकी शोभा को देखा या नहीं देखा, परन्तु वे अपने अन्दर के गुणरत्नों की शोभा को अवश्य देख रहे हैं। जम्बूकुमार ने धीरे-धीरे राजमंदिर में प्रवेश किया। मृगांक की रानियाँ एवं कुमारियाँ जम्बूकुमार को देखते ही आनंदित हो उठीं। उन्होंने शीघ्र ही अतिथि के रूप में जम्बूकुमार का रत्नचूर्ण से तिलक किया और उच्च आसन पर बिठाया। उसके बाद मृगांक राजा जम्बूकुमार का सेवक बन सेवा करने लगा। उसने नाना प्रकार के तैल-मर्दन आदि कराके कुमार का स्नान करवाया। मृगांक भले ही जम्बूकुमार का सेवक हो, परन्तु जम्बूकुमार तो वीतरागी

देव-शास्त्र-गुरुओं के सेवक हैं।

आराधक कहीं भी कैसी भी परिस्थिति में हो, परन्तु अपने आराध्य को नहीं भूलते। जम्बूकुमार ने शुद्ध वस्त्रादि पहन कर अष्ट द्रव्य की थाली अपने हाथों में लेकर श्री जिनेन्द्रदेव के मंदिर में जाकर प्रभु की खूब भक्ति-भाव से दर्शन-पूजन की, अपने किए हुए दोषों की आलोचना की तथा वीतरागता-पोषक जिनवाणी का स्वाध्याय किया। इसके उपरांत वे पुनः मृगांक के महल में पधारे। वहाँ राजा मृगांक ने सरस सुगंधित शुद्ध व्यंजनों द्वारा जम्बूकुमार को भोजन कराया। तदुपरांत कुमार से सुन्दर शय्या पर विश्रांति की प्रार्थना की। उसके बाद आगंतुक योद्धागण आदि तथा रत्नचूल विद्याधर सहित मृगांक राजा ने भोजन किया। विश्रांति-काल पूर्ण होने के बाद जम्बूकुमार वहाँ से राजदरबार जाने के लिये प्रस्थान करने को तैयार हुए।

रत्नचूल भी बंधन-मुक्त

मृगांक नृप ने जम्बूकुमार को राजसभा में ले जाकर राज-सिंहासन पर आसीन किया। नीति-निपुण दयावान कुमार ने राजसभा में रत्नचूल को बंधन-मुक्त करते हुए मंगलमयी कोमल वचनों से संबोधित कर संतुष्ट किया - "हे विद्याधर! युद्ध में जय-पराजय तो होती ही है। ये तो क्षत्रियों का धर्म है। इसमें क्षत्रिय हर्ष-विषाद नहीं करते। हे भ्रात! संसार की जीत भी हार ही है। शारीरिक बल एवं पुण्य-प्रताप मुक्तिमार्ग में अकिंचित्कर हैं। क्षत्रिय का धर्म तो द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म से भिन्न निज चैतन्यप्रभु की उपासना से कैवल्य प्राप्त कर चैतन्य के शाश्वत सदन में पहुँच कर कर्म-सेना को निःसत्त्व करना है। वहाँ का सादि-अनंत काल का निर्विघ्न राज्य करना ही हम जैसों का धर्म है। हे विद्याधर! सच्चे देव-शास्त्र-गुरुओं की उपासना सहित आत्महित को साधते हुए आप अपने राज्य एवं परिवार में सुख से रहो और सुख भोगो।"

कुमार के मुख से आत्महितकारी वचनामृत का पान करके रत्नचूल नम्रतापूर्ण वचनों से अपने भावों को प्रगट करते हुए बोले - "हे स्वामी! हे शूरवीर कुमार, मैं आपके ही साथ चलकर श्रेणिक महाराज

के दर्शन करना चाहता हूँ।"

रत्नचूल की उक्त भावना को देखकर कुमार ने उसे साधुवाद दिया।

केरल से जम्बूकुमार का प्रस्थान

मृगांक नृप ने अति हर्ष के साथ नाना प्रकार के मणि-रत्नों के आभूषण एवं वस्त्रादि भेंट करते हुए कुमार का सन्मान किया और व्योमगति विद्याधर को आज्ञा दी - "आप विमान में बैठाकर कुमार को उनके योग्य स्थान पहुँचाइये।"

व्योमगति विद्याधर ने हर्षित-चित्त होकर अपने विमान में कुमार को बैठाकर प्रस्थान किया, पश्चात् राजा मृगांक ने अन्य आगंतुक योद्धागणों को भी विमानों द्वारा भेजा। राजा मृगांक स्वयं भी अपनी पत्नी एवं विशालवती कन्या को लेकर दूसरे विमान में पीछे से चलने लगा तथा ५०० विद्याधर योद्धा भी अपने-अपने विमानों पर चलने लगे। आकाश विमानों से भर गया।

श्रेणिक राजा से भेंट

सभी विद्याधरों ने अपने-अपने विमान आकाशमार्ग में ही स्थित रहने दिये। जम्बूकुमार उन सभी विद्याधरों को स-सम्मान राजा श्रेणिक के पास लाये। श्रेणिक महाराज अपने सिंहासन पर बैठे हुए थे। आकाशमार्ग में विमानों की ध्वनि का शोर सुनकर वे उनकी ओर देख ही रहे थे कि इतने में दूर से ही जम्बूकुमार अनेक विद्याधरों के साथ आते हुए दिखाई दिये। राजा तुरन्त सिंहासन से उठे और आगे जाकर बड़े ही आदर के साथ जम्बूकुमार को हृदय से लगाते हुए बोले - "हे कुमार! बहुत दिन हो जाने से मेरा हृदय और मेरी आँखें तुम्हें देखने को तरस गईं थीं। अब बहुत दिनों बाद तुम्हें देखकर मेरा हृदय हर्ष से फूला नहीं समा रहा है।"

राजा ने कुमार का हाथ पकड़ कर अपने ही निकट सिंहासन पर बैठा लिया। तथा आये हुए सभी विद्याधरों आदि से स्नेहपूर्वक क्षेम-कुशल पूछी। उसके बाद व्योमगति विद्याधर ने खड़े होकर परिचय

देते हुए कहा - "यही राजा मृगांक हैं, जो आपको अपनी कन्या देना चाहते हैं। यह पटरानी मालतीलता हैं। तथा ये विद्याधरों में मुख्य राजा रत्नचूल हैं, जो बड़े-बड़े योद्धाओं से अजेय थे, मगर आपके कुमार ने इनको भी जीत लिया। यह हमारा विद्याधर परिवार है।"

व्योमगति के वचन सुनकर राजा श्रेणिक का आनंद उसी तरह वृद्धिंगत होने लगा, जैसे चन्द्रमा के उदय से समुद्र बढ़ने लगता है। श्रेणिक राजा भी बारंबार कुमार की प्रशंसा करने लगे, सो उचित ही है, क्योंकि सज्जन पुरुष उपकारकों का उपकार कभी नहीं भूलते।

महाराज श्रेणिक, सम्पूर्ण सेनादल तथा विद्याधर राजाओं का समूह सभी जम्बूकुमार के हृदयोद्गार सुनना चाहते थे; परन्तु कुमार मौन हो कोई अलौकिक दुनिया में विचरण कर रहे थे। अनेकों बार अनेकों व्यक्तियों ने निवेदन किया - "हे धीर-वीर कुमार! हे क्षत्रिय-वंश-तिलक! हे वात्सल्यमूर्ति! हे दयानिधान! हम आपके श्री मुख से जीत के समाचार सुनना चाहते हैं।" परन्तु -

ज्ञानी डूब्यो शरम में, करे न कोई सों बात।
जब कोई बातें छेड़ दे, तो मंद-मंद मुस्कात।।
मंद-मंद मुस्कात, फिर धीरे से कुछ बोलें-
अपनी पावन वाणी में, अध्यातम की मिश्री घोले।।

पश्चात् राजा मृगांक ने उचित समय जानकर, अनेक प्रकार के रत्नादि द्रव्यों की भेंट समर्पित करते हुए राजा श्रेणिक से अपनी कन्या विशालवती के साथ पाणिग्रहण करने का निवेदन किया। महाराज श्रेणिक मृगांक की बात सुनकर मुस्कुराने लगे। यही उनकी स्वीकृति का प्रतीक था। मृगांक राजा ने सभीप्रकार की साज-सज्जा के साथ लग्न-मंडप तैयार कराया। सभी विद्याधरों ने बड़े हर्ष के साथ श्रेणिक नृप के साथ विशालवती का पाणिग्रहण सम्पन्न कराया। चारों तरफ नारियाँ मंगल गीत गा रही थीं। विवाहोत्सव सोल्लास समाप्त हुआ।

तदुपरांत राजा श्रेणिक ने मृगांक राजा एवं रत्नचूल राजा का मैत्रीभाव कराया और फिर सभी आगंतुक मेहमानों को यथोचित सन्मान करके बिदा किया। सभी जन लौट आये। व्योमगति विद्याधर भी

अपने स्वामी के कार्य को निष्पन्न जान प्रसन्न हो अपने धाम को लौट गया।

पूज्य श्री सुधर्माचार्य का दर्शन

कुछ दिन बीत जाने पर राजगृही नगर के उपवन में पूज्य श्री सुधर्माचार्य नग्न दिगम्बर सन्त का आगमन हुआ। जैसे ही राजा तथा जम्बूकुमार आदि को ज्ञात हुआ, वे तुरंत आचार्य श्री के दर्शनार्थ वहाँ पहुँचते हैं। मुनिवरवृन्दों सहित पूज्य श्री सुधर्माचार्य धर्मामृत की वर्षा कर रहे हैं। श्रेणिक राजा, जम्बूकुमार तथा नवीन रानी विशालवती आदि अपना महाभाग्य जगा जानकर पूज्य गुरुवरों को अंजुलि जोड़कर नमस्कार करके तीन प्रदक्षिणा देकर वहीं बैठकर धर्मामृत का पान करने लगे। श्रेणिक राजा अपने भाग्य को सराहने लगे - "अहो! मुझे राजलक्ष्मी, जयलक्ष्मी के साथ-साथ धर्मलक्ष्मी का लाभ भी प्राप्त हुआ।"

उसके बाद श्रेणिक राजा वीतरागी धर्म एवं धर्म के धारकों की महिमा करते हुए अपनी रानी विशालवती के साथ राजमहल वापस आये।

धरम करत संसार सुख, धरम करत निर्वाण।
धर्म-पंथ साधे बिना, नर-तिर्यंच समान॥

सोने में सुगंध

राजा श्रेणिक रानी सहित राजमंदिर को चले गये, परन्तु विरक्तचित्त जम्बूकुमार पूज्य गुरुवरों की चरण की शरण में ही बैठे हुए हैं। उनका हृदय वीतरागी संतों के समान अतीन्द्रिय आनंद का प्रचुर स्वसंवेदन करने के लिए ललक रहा है। वे गुरुराजों की आनंद झरती शांत-प्रशांत वीतरागी मुख-मुद्रा को टकटकी लगाकर निरखे ही जा रहे हैं। कुछ देर बाद जम्बूकुमार आचार्यश्री के चैतन्यतत्त्व को मानो स्पर्श करते हुए उनकी स्तुति करने लगे -

जंगल में मुनिराज अहो, मंगल स्वरूप निज ध्यावें।
बैठ समीप संत चरणों में, पशु भी बैर भुलावें ॥ टेक॥

वेदन जिन्हें असंग ज्ञान का, नहीं संग में अटके।
कोलाहल से दूर स्वानुभव, परम सुधा रस गटके॥
भवि दर्शन उपदेश श्रवण कर, जिनसे शिवपद पावें॥ १॥

ज्ञेयों से निरपेक्ष ज्ञानमय, अनुभव जिनका पावन।
शुद्धात्मा दरसाती वाणी, प्रशममूर्ति मन-भावन॥
अहो जितेन्द्रिय गुरु अतीन्द्रिय, ज्ञायक प्रभु दरसावें॥ २॥

हे मलयगिरि के चंदन की सुगंध समान शांत प्रभो! हे समदर्शी गुरु! हे वीतरागी विभु! आपको शत-शत बार नमन हो! नमन हो!! हे प्रभो! मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? यह कौन-सा पुण्योदय है? इत्यादि अनेक प्रश्न मेरे मन में उठ रहे हैं, इसलिए हे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी विभु! आपसे इनका स्वरूप जानने की मेरी प्रबल भावना हुई है।''

श्री सुधर्माचार्य गुरुवर बोले - ''हे भव्योत्तम! तुम ज्ञानानंदमयी शाश्वत चैतन्यतत्त्व हो, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य प्रभुता विभुता आदि अनंत शक्तियों के भंडार हो, ऐसे निजस्वरूप की आराधना से निश्चय रत्नत्रय प्राप्त कर जगत का ज्ञाता-दृष्टा रहना ही तुम्हारा स्वरूप है। अपनी शाश्वत प्रभुता का संवेदन करना ही तुम्हारा काम है।

हे भव्य! इसी मगध देश की वर्धमानपुरी में दो निकट भव्य ब्राह्मण-पुत्र थे, जिनके नाम भावदेव एवं भवदेव थे। उन दोनों ने शाश्वत सुखदायी जिनदीक्षा धारण कर ली और समाधिमरण पूर्वक देह छोड़कर वे सानत्कुमार स्वर्ग में देव हुए। वहाँ की आयु पूर्ण कर भावदेव तो वज्रदंत राजा का सागरचन्द्र नामक पुत्र हुआ और भवदेव महापद्म चक्रवर्ती का शिवकुमार नाम का पुत्र हुआ। वहाँ भी वे दोनों क्रमश: जिनदीक्षा धारण करके उग्र तप को तपते हुए समाधिपूर्वक देह त्याग करके छट्‌ठे ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव हुए। वहाँ से च्युत होकर भावदेव का जीव भरतक्षेत्र के संवाहनपुर के राजा सुप्रतिष्ठ तथा उनकी पटरानी रूपवती का सुधर्म नाम का पुत्र हुआ। वह राजा तो वीतरागी धर्म का उपासक है ही, मगर वह नगर भी अनेक मुनि भगवंतों की चरण-रज से पवित्र है।

धर्मानुरागी सुप्रतिष्ठ राजा एक दिन अपनी पटरानी एवं पुत्र सहित

श्री महावीर प्रभु की वंदना हेतु उनके समवशरण में पधारे। श्री १००८ पूज्य वर्धमान प्रभु के मुख-कमल से धर्मामृत का पान कर सुप्रतिष्ठ राजा ने संसार देह भोगों से उदास हो, अष्ट कर्मों की नाशक और अष्ट महागुणों की प्रदाता ऐसी निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। ध्यान-ज्ञान में लीन, वैराग्यमूर्ति श्री सुप्रतिष्ठ मुनिराज को ज्ञानाराधना के प्रताप से द्वादशांग की अपूर्व लब्धि प्रगट हो गई; इसलिए वे पूज्य वर्धमान स्वामी के चौथे गणधर के रूप में शोभने लगे।

ज्ञान-वैराग्य की अनुपम मूर्ति पूज्य पिता को गणधर पद में विराजमान देख सुधर्मकुमार को भी वैराम्य हो गया, जिससे उसने भी वीतरागी जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। तथा चारों प्रकार की आराधनाओं का आराधन कर द्वादशांग श्रुत का पारगामी बनकर श्री वीरप्रभु के पाँचवें गणधर के रूप में सुशोभित होने लगा। वही भावदेव का जीव मैं तेरे सामने बैठा हूँ और तुम भवदेव के जीव हो, जो छट्ठे स्वर्ग के विद्युन्माली देव-पर्याय से आकर सेठ अर्हद्दास के सुपुत्र हुए हो और विद्युन्माली देव की जो चार देवियाँ थीं, वे भी वहाँ से च्युत होकर सागरदत्त आदि चार श्रेष्ठियों की कन्यायें हुईं हैं, जो तेरी ही भार्या होंगी। हे धर्मज्ञ वत्स! यह तुम्हारी पूर्व आराधनाओं का फल है, जो तुम्हें परम पवित्र जिनधर्म मिला, सच्चे धर्म की पोषक जिनवाणी एवं परम पूज्य वीतरागी संत मिले।''

जम्बूकुमार का वैराग्य

जम्बूकुमार पहले से तो आराधक थे ही, परम पूज्य मुनिराज के मुखारविंद से अपने भवांतर की कहानी सुनकर उनकी आराधना अब दृढ़ता को प्राप्त हो गई। संसार का जड़-वैभव सड़े हुए तृण के समान भासने लगा। ये सुन्दर काया श्मशान की राखवत् दिखने लगी। यह पुण्य का प्रताप छिनकी हुई नाक के समान जान पड़ने लगा। उन्हें जगत में एक आत्माराधना के अलावा सब असार भासित होने लगा। उनका मन जिनदीक्षा के लिये तैयार हो गया। इसलिए वे पूज्य गुरुवर के समक्ष हाथ जोड़कर जिन-दीक्षा की प्रार्थना करने लगे - ''हे जगत-उद्धारक करुणासिंधु विभु! मैं इस संसार एवं सांसारिक भावों से थक चुका हूँ, इसलिए मुझे परम आनंददायिनी जैनेश्वरी

दीक्षा देकर अनुगृहीत कीजिए।''

सौम्य मुद्रावंत, चार ज्ञान से सुशोभित आचार्यवर्य श्री सुधर्माचार्य ने अपने अवधिज्ञान से उसे अति निकट भव्य जानकर मधुर वचनों से कहा - ''हे भव्य! यदि तुम्हारे मन में जिन-दीक्षा की तीव्र उत्कंठा है तो तुम अपने घर जाकर अपने माता-पिता, बंधुवर्ग से सम्मति लेकर एवं उनके प्रति हुए अपराधों को क्षमा कराके आओ। तभी तुम कर्मक्षयकारी आनंददायिनी दीक्षा पाने के पात्र होओगे।''

जम्बूकुमार मन में विचारते हैं - ''पूज्य आचार्यवर्य की आज्ञा का उल्लंघन करना तो योग्य नहीं है। घर नहीं जाने का हठ करना भी योग्य नहीं। इसलिए गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने को घर जाना चाहिए।''

इसप्रकार का विचार करके जम्बूकुमार गुरु को नमस्कार करके घर की ओर जा रहे हैं, परन्तु मन में एक ही धुन सवार है - ''मैं घर से शीघ्र वापिस आकर जिनदीक्षा लूँगा।''

घर पहुँचकर विरक्त कुमार उदास हो एकान्त स्थान में बैठ गये। माता जिनमती तो पुत्र की विजय सुनकर फूली नहीं समा रही थी, लेकिन पुत्र को उदास-उदास देखा तो वे कुछ समझ नहीं पाईं। पुत्र के सिर पर स्नेह से हाथ फेरती हुई पूछने लगीं - ''बेटा! तुम उदास क्यों हो? आज तो तुम त्रिजयश्री प्राप्त करके आये हो, फिर प्रसन्नता के बदले उदासी क्यों?''

तब जम्बूकुमार ने अपने हृदय की सभी बातें माता को शांतभाव से कह दीं - ''हे माता! अब मुझे इस संसार में रहना एक क्षण भी नहीं सुहाता है। मुझे संसार, देह, भोगों को त्यागकर शीघ्र ही जिन-दीक्षा लेना है। अब मैं अपने पाणि-पात्र में प्राप्त हुआ आहार ही ग्रहण करूँगा। मुझे अब ये महल नहीं सुहाते, मैं तो वन-खंडादि में रहूँगा और अतीन्द्रिय आनंद में केलि करूँगा। संतों की शीतल छाया ही सुखदायिनी है।''

पुत्र के वचन सुनकर माता जिनमती पवन के झकोरों से काँपती हुई ध्वजा के समान काँपने लगी। गर्मी के ताप से मुरझाई हुई कमलिनी के समान माता आँखों में अश्रु भरती हुई बोली - ''बेटा!

ऐसे वज्रपात-कारी वचन अकस्मात और अप्रासंगिक क्यों कह रहे हो? क्या किसी ने तुम्हारी आज्ञा भंग की हैं? या तुमसे कुछ कठोर वचन कहे है? आखिर ऐसा हुआ क्या है, जो विजयश्री की खुशी के बदले सीधे ही जिन-दीक्षा लेने की ठान ली?''

तब कुमार ने श्री सुधर्माचार्य गुरुवर के मुख से सुना हुआ अपने पूर्वभव का सम्पूर्ण वृत्तांत माता को कह सुनाया। पुत्र के पूर्वजन्म की चर्चा सुनकर माता जिनमती के अन्दर भी धर्मबुद्धि जाग उठी। उसने अपने चित्त को शांत करके सेठ अर्हद्दास के पास जाकर सम्पूर्ण समाचार सुना दिये - ''हे नाथ! यह जम्बूकुमार चरमशरीरी है, यह जिनदीक्षा लेना चाहता है।'' लेकिन सेठजी यह समाचार सुनते ही मूर्च्छित हो गये। कुमारादि सभी जनों ने शीतल जल एवं पवनादि के उपचार द्वारा सेठजी की मूर्च्छा दूर की, परन्तु तीव्र मोहोदय से वे हाहाकार के शब्द कहकर विलाप करने लगे। उनके आकुलतापूर्ण विलाप ने सभी के हृदयों को द्रवित कर दिया, परन्तु वैरागी जम्बूकुमार पर उसका कुछ भी असर नहीं पड़ा।

पिता अर्हद्दास ने कुमार से कहा - ''बेटा! अभी तुम छोटे बालक हो। तुम जिनदीक्षा के स्वरूप को नहीं जानते हो। जंगल में वाघ, सिंह आदि क्रूर पशुओं के बीच में कंकड़ एवं कांटों से व्याप्त भूमि में रहना होता है। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि अनेक प्रकार के उपसर्ग-परीषहों को तुम्हारा यह कोमल शरीर सह नहीं सकेगा, नग्न दिगम्बर रहना, मनुष्य, तिर्यंच एवं देवों द्वारा किये गये अनेक उपसर्गों को बड़ी धीरता-वीरता पूर्वक सहन करना; ये तुमने तो अभी कुछ देखे ही नहीं, तुम इतने कष्ट कैसे सहोगे? जरा शांति से सभी बातों का विचार करो। पुत्र! पूज्य आचार्यों ने तो प्रथम सम्यग्दर्शन सहित देशव्रतों को पालने की आज्ञा दी है। जब देशव्रतों में दृढ़ता आ जावे, तब भाव सहित महाव्रतों को अंगीकार करना - ऐसा मार्ग बतलाया है। अभी तुम देशव्रतों को ही नहीं पालते और महाव्रतों को लेने तैयार हो गये। ये तो उचित नहीं है पुत्र!''

जम्बूकुमार पिताजी के वचनों को शांतिपूर्वक सुन रहे हैं और सोच रहे हैं कि जगत को जिनदीक्षा धारण करना इस पर्याय में

भले ही अपरिचित एवं असाध्य कार्य लगे, परन्तु मैं तो पूर्व दो भवों से जिनदीक्षा धारण करके आत्मा के प्रचुर स्वसंवेदन का अर्थात् आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद का रसपान करता आ रहा हूँ, अतः मेरे लिए यह कोई नया कार्य या असाध्य कार्य नहीं है। इसलिए कुमार ने पिता को मधुर स्वरों से संबोधित किया - "हे पिताजी! बाह्य वस्तुएँ सुख-दुःख की कारण नहीं होतीं। आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद में रमने वालों को क्या उपसर्ग और क्या परीषह? इसलिए हे तात! आप मोह छोड़कर मेरे वीतरागी मार्ग की अनुमोदना कीजिए और मुझे आज्ञा दीजिए।"

कुमार को दृढ़ जानकर श्री अर्हद्दास सेठ ने अपने मन को शांत किया और एक चतुर सेवक को एकांत में बुलाकर कहा - "तुम शीघ्र ही जाकर सागरदत्त आदि श्रेष्ठियों को यह समाचार दो कि जम्बूकुमार संसार से विरक्त हो जाने के कारण जिनदीक्षा लेने को तैयार हैं।"

सेठ अर्हद्दास के मुख से ऐसे हृदय-विदारक समाचार को सुनकर सेवक उदास हो गया - "अरे रे! ऐसा समाचार मुझे देना पड़ेगा? मैं कैसे कहूँगा? अरे, धिक्कार है ऐसी पराधीनता को!"

सेवक घबड़ाये हुए चित्त से जा रहा है। उसके पैर भी लड़खड़ाते हुए पड़ रहे हैं। वह व्यथित होता हुआ सागरदत्त श्रेष्ठी के सन्मुख जाकर नीचा मुख करके निःचेष्ट खड़ा हो गया। श्रेष्ठी उसके वहाँ आने का कारण पूछ रहे हैं। मगर उसके मुख से कुछ भी शब्द नहीं निकल पा रहे हैं। वह तो दुःख के सागर में डूब गया है। सागरदत्त उससे पुनः पुनः पूछते हैं। तब यह खेद-खिन्नता के साथ कुछ धीरे-धीरे दबे स्वर में बोलता है - "अरे रे! आप जैसे सज्जनों का समागम बड़े भाग्य से मिला था, परन्तु रे दैव! तुझे मंजूर नहीं हुआ। हमारा बड़ा दुर्भाग्य है कि अकस्मात् ऐसे शुभ कार्य में विघ्न आ पड़ा।"

सागरदत्त - "अरे सेवक! ये क्या कह रहे हो? कैसा दुर्भाग्य और कैसा विघ्न? बोलो, शीघ्र बोलो! हम तुम्हारे गूढ़ रहस्य युक्त वचनों को कुछ नहीं समझ पा रहे हैं।"

सेवक - "अरे, रे, इन कन्याओं के दुर्भाग्य की बात मुझे कहना पड़ रहा है। हे श्रेष्ठी! कुमार का मन जिन-दीक्षा लेने को तैयार है। अत: उन्होंने विवाह करने से इन्कार कर दिया है। उनके माता-पिता आदि ने उन्हें बहुत समझाया, अनेक प्रकार की युक्तियों एवं प्यार से समझाया, परन्तु कुमार किसी भी तरह से विवाह को तैयार नहीं हुए हैं।"

सागरदत्त श्रेष्ठी ने यह समाचार अन्य तीनों श्रेष्ठियों को भी सूचित करा दिया। तीनों श्रेष्ठी सागरदत्त श्रेष्ठी के पास आये। चारों ओर उदासी छा गई। सभी सोच में पड़ गये, अब क्या किया जाय?

धनदत्त - "क्यों न हम सभी जम्बूकुमार के पास चलकर अनुनय-विनय करने का प्रयत्न करें? चलो, हम सभी को चलना चाहिए।"

सागरदत्त - "जब माता-पिता के ही सब प्रयास विफल हो गये, तब हम जाकर क्या करेंगे? क्या चरम-शरीरी कुमार के वैराग्य को भी बदला जा सकता है? मुझे तो यह असंभव लगता है। फिर इस मंगलमयी परिणाम की तो हमें अनुमोदना करनी ही चाहिए।"

तब अन्य श्रेष्ठिजन अत्यंत दुखित चित्त से दीर्घ श्वाँस छोड़ते हुए बोले - "यदि कुमार कुछ काल संसार में रुककर हमारी पुत्रियों के सौभाग्य-तिलक बनते तो कितना अच्छा होता। अब इस लोक में उन जैसा वर हम कहाँ से लायेंगे? हाय! कैसी भाग्य की विडम्बना है।"

उनकी आँखों में अश्रु छलछला आये। तब सागरदत्त सभी को धीरज बँधाते हुए बोले - "होनहार के आगे किसका वश है? अत: शोक छोड़कर पुत्रियों के हित का विचार करो। उन्हें यह समाचार मिलेगा तो उन पर क्या बीतेगी? अत: चलो, प्रथम तो हम उन्हें सांत्वना देते हुए उन्हें इस समाचार से अवगत करायें।"

चारों श्रेष्ठियों ने अपनी-अपनी कन्याओं एवं उनकी माताओं को बुलाकर एकत्रित किया और उनका वार्तालाप होने लगा।

सागरदत्त - "हे पुत्रियों! तुम सभी ने पूज्य सुप्रभा आर्यिकाजी के सान्निध्य में वस्तुस्वभाव को समझा है, प्रत्येक वस्तु नित्य रहकर भी पलटती है। परिणमन स्वभाव में विचित्रता होती है। कभी मंदता

कभी तीव्रता, कभी रागरूप तो कभी वीतरागरूप परिणमन होता है। विवेकीजन इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग रूप परिणामों में हर्ष-विषाद नहीं करते, क्योंकि एक क्षण पहले का पापी दूसरे क्षण में धर्मात्मा हो जाता है। इसलिए .....''

पद्मश्री - ''हे तात! अकस्मात् इसप्रकार वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन करने का क्या आशय है? अभी कोई स्वाध्याय या तत्त्वचर्चा का प्रसंग तो है नहीं? क्या कुमार ने दूत के साथ कोई वीतरागी सिद्धान्तों के रहस्य का संदेश भेजा है? मैं आपके प्रतिबोधन का मर्म नहीं समझ पा रही हूँ।''

धनदत्त - ''हे पुत्रियों! तुम्हारी शंका के निवारणार्थ ही मुझे बरबस कहना पड़ रहा है कि जम्बूकुमार ने अपने माता-पिता आदि के द्वारा अनेक प्रकार से समझाये जाने पर भी संसार में फँसना योग्य नहीं समझा है और वीतरागता के पथ पर चलने का निर्णय ले लिया है। इसलिये हे प्रिय पुत्रियों! तुम इस मंगलगर्भित अमंगल समाचार को सुनकर व्यथित न होओ। हम सभी जन पुनः कुमार से मिलेंगे।''

इतना सुनते ही पुत्री की माँ पद्मावती रुदन करने लगी।

सागरदत्त - ''हे प्रिये पद्मावती! तुम अपना दिल छोटा न करो। तुम तो माता हो। तुम्हें धीरज से काम लेना चाहिए एवं पुत्रियों को भी धैर्य बँधाना चाहिए। इस जगत में बहुत सुयोग्य लड़के हैं। हम दूसरे सुन्दर सुयोग्य वरों के साथ अपनी पुत्रियों का धूमधाम से विवाह करेंगे।''

पश्चात् चारों श्रेष्ठियों एवं उनकी पत्नियों ने अपनी चारों कन्याओं को संबोधित किया - ''हे प्रिय पुत्रियों! तुम लोग चिंतित मत होओ। हम लोग प्रथम प्रयास तो कुमार को ही मनाने का करते हैं। हमें विश्वास है कि जम्बूकुमार मान जायेंगे। यदि उन्होंने दृढ़ निर्णय ले ही लिया होगा तो हम लोग और दूसरे सुन्दर सुयोग्य वर के साथ तुम्हारा विवाह कर देंगे। अभी तो अपना कुछ बिगड़ा ही नहीं है।''

पिता के इन वचनों को सुनते ही चारों कन्यायें एकदम बोल

उठीं - "हे तात! हे माता!! आपने ऐसी उच्च कुल के अयोग्य बात का विचार कैसे कर लिया? हम सभी ने मन ही मन यह निश्चय कर लिया है कि हमारे पति तो जम्बूकुमार ही हैं। अन्य का तो हम स्वप्न में भी विचार नहीं कर सकते, क्योंकि सती का पति दुनिया में एक ही होता है।"

इसके बाद अपनी पुत्रियों के दृढ़ निश्चय को जानकर चारों श्रेष्ठी श्री जम्बूकुमार के पिता अर्हद्दास के यहाँ पहुँचे और जम्बूकुमार के संबंध में सम्पूर्ण जानकारी जानने हेतु उनसे पूछने लगे - "हे मित्र! कुमार को अचानक ऐसा विचार आने का क्या कारण है? उन्होंने इतनी लघु वय में इतना कठोर कदम उठाने की कैसे सोची?"

सेठ अर्हद्दास - "हे मित्रों! कुमार जब केरल युद्ध से वापिस अपने नगर को आये तो नगर के उद्यान में पूज्य सुधर्माचार्यजी से अपने पूर्वभवों का वृत्तांत श्रवण करते ही उनका हृदय वैराग्य के लिये उछल पड़ा है।"

पुनः चारों श्रेष्ठियों ने अपने मित्र अर्हद्दास से कहा - "हे मित्र! आप एक बार पुनः कुमार को समझायें कि वे मात्र शादी कर लें, बस! उसके बाद चाहे वे अगले ही दिन वीतरागी पथ की ओर चले जायें, हमारी सहर्ष स्वीकृति है।"

वैराग्यरस में सराबोर मुक्तिकांता के अभिलाषी को संसार, देह, भोगों की आकांक्षा लेशमात्र न होने पर भी माता-पिता के अति आग्रहपूर्वक बारंबार समझाने पर जम्बूकुमार ने इस बात के लिए अपनी मौन स्वीकृति प्रदान कर दी।

अर्हद्दास को एक ओर तो कुमार का विवाह से अप्रभावित वैराग्य दिख रहा था तो दूसरी ओर उन्हें उन कन्याओं के सौन्दर्य एवं व्यवहार-कुशलता पर पूर्ण विश्वास था।

अतः प्रसन्नतापूर्वक तत्क्षण विवाहोत्सव का आयोजन किया गया। समस्त इष्टजनों एवं पंच-परमेष्ठियों की साक्षीपूर्वक कुमार का चारों सुकन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न करा दिया गया। चारों श्रेष्ठियों ने वर-वधु का रत्नमयी अलंकारों से यथोचित सम्मान किया। उसके बाद कुमार की बारात अपने महल को लौटी। द्वार पर बारात आने

पर माता एवं इष्टजनों ने वर-वधु का मंगलगान एवं रत्न-द्वीपों द्वारा स्वागत करते हुए गृह-प्रवेश कराया।

तभी जम्बूकुमार के महल में चारों ओर जम्बूकुमार का गुणानुवाद होने लगा। बालकगण खुशी में एक ओर से दूसरी ओर दौड़ रहे हैं। सौभाग्यवती महिलायें मंगलगान कर रही हैं। किमिच्छक दान दिया जा रहा है। कहीं तुरही तो कहीं शहनाई का वादन हो रहा है। सभी इष्टजन व परिजन प्रसन्न हैं; परन्तु माता का हृदय विह्वल है, पिता का मन आशंकित है। वे कभी मौन रहते हैं तो कभी मन ही मन बड़बड़ाते हैं। कभी अपने मन को समझाते हैं कि नहीं, नहीं; इन चारों सुकन्याओं का रूप-लावण्य एवं कुशलता कुमार के चित्त को अवश्य हर लेगी। पुनः विचार आता है कि क्या सचमुच कुमार रुक जायेंगे? हे नाथ! कहीं कुमार चले ना जायें? क्योंकि वे जानते थे कि चरमशरीरी पुत्र के वैरागी चित्त को बदलना अत्यन्त अशक्य होता है। हे नाथ! प्रातः मेरा घर शोभाहीन न हो जावे। उनका मन बारंबार डोल रहा है। वे कभी विष्फारित नेत्रों से देखते हैं तो कभी दोनों आपस में बातें करते हुए एक-दूसरे को धैर्य बँधाते हैं।

वैराग्य-रस से ओतप्रोत शादी की प्रथमांत रात

अब यहाँ प्रारंभ हुई कुमार के गृहस्थावस्था की प्रथमांत रात। आनेवाले सूर्य में एक आनंदमयी नया प्रभात खिलेगा, जो केवलज्ञानरूप मार्तण्ड को प्राप्त करने की ओर अग्रसर होगा।

महल में बारात आने के बाद कुमार तो अपने कक्ष में जाकर एकांत स्थान में स्वरूप-आराधना के लिये प्रयत्नरत हो गये। इधर चारों वधुएँ सुन्दर महल में कुमार की प्रतीक्षा कर रही हैं, परन्तु बहुत समय की प्रतीक्षा के बाद चारों वधुओं ने सोचा कि कुमार के कक्ष में जाकर देखा जाये। वे कुमार के कक्ष में प्रवेश करती हैं और देखती हैं कि कुमार तो एक निःस्पृह योगी की तरह निश्चल बैठे हुए हैं। तब चारों वधुएँ कुमार को प्रणाम करती हुई बोलीं - "हे देवराज! आज के ऐसे अवसर पर आपके रूठने का क्या कारण है। आप जरा नेत्रों को तो खोलिए। हमारी आपके चरणों

में भावपूर्ण अनुनय-विनय है। आप मात्र इसका कारण बताइये। बोलिये स्वामी! कुछ तो बोलिये! हम चारों आपके वचन-श्रवण कर अपने कर्ण एवं मन को पवित्र करना चाहती हैं।''

अति-अति आग्रह करने पर कुमार ने अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से चारों वधुओं को ऐसे देखा जैसे कोई धर्मगुरु अपने शिष्यों को देखता है। वे सोच रहे थे कि प्रभातकाल में फलीभूत होनेवाली मेरी भावनाओं से ये चारों अपरिचित हैं, अतः अकस्मात् क्या बोला जाय? फिर भी वे कुछ ऐसा बोले - ''हे भद्रो! मैं आप लोगों से रूठा नहीं हूँ और अपरिचित व्यक्तियों से रूठने का कुछ कारण भी नहीं होता।''

तब चारों वधुयें हाथ जोड़कर पूछती हैं - ''हे नाथ! तो फिर ऐसे अवसर पर आपके इस प्रकार के व्यवहार का क्या कारण है?''

कुमार पुनः मौन हो विरक्त योगी की तरह बैठ गये हैं। चारों वधुओं ने उनसे कुछ बुलावाने हेतु तथा उनके मन को अपनी तरफ आकर्षित करने हेतु अपनी हाव-भावपूर्ण वाचनिक एवं कायिक चेष्टाएँ भी कीं, परन्तु वैराग्य रस के सामने राग के सम्पूर्ण बाण विफल हो गए। उन वधुओं का सम्पूर्ण क्रिया-कलाप हवा में तीर चलाने जैसा निष्फल गया।

पुनः वधुयें बोलीं - ''हे स्वामिन्! हम सभी आपकी भावना जानना चाहती हैं।''

तब जम्बूकुमार बोले - ''हे देवियों! आपने कहा कि ऐसा अवसर, लेकिन कैसा अवसर? यह तो मानव भव का वीतराग के पथ पर चलकर अतीन्द्रिय आनंद का प्रचुर स्वसंवेदन कर शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति प्राप्त करने का मंगल अवसर है। मैं भी यही भावना भाता हूँ कि अब का प्रभात मुझे प्रचुर स्वसंवेदन के रूप में फलीभूत हो। आत्मानंद में अभिवृद्धिरूप जैनेश्वरी दीक्षा से भानु-उदय हो, मंगलमयी प्रभात हो - यही मेरी भावना है।''

बुद्धिमत्ता एवं रूप-लावण्य में पगी हुई चारों वधुओं ने कुमार को रिझाने के लिये पुनः रागरंग भरी बातें की। किसी वधु ने उनके पैरों को पकड़कर, किसी ने हाथों को पकड़कर, किसी ने

उन्हें हिलाते हुए एवं किसी ने नाना प्रकार की चेष्टायें करते हुए उनसे कहा - ''हे नाथ! आप हमारे रूप-लावण्य को एक बार प्रसन्नतापूर्वक देखो तो सही, हमारे इन कोमल हाथों को स्पर्श करके देखो तो सही? आप जरा नेत्र तो खोलिये, हमारी मधुर वाणी को जरा तो सुनिये।''

वैरागी कुमार तो नेत्र, कर्ण आदि को एकदम बंद करके ऐसे शांत बैठे हैं, मानो वधुओं के वचनों की तरफ उनका लक्ष्य ही नहीं है। चारों वधुओं की अति-अति आग्रहपूर्ण चेष्टाओं पर कुछ विचार करने के बाद कुमार उठकर जाने लगे, तब चारों वधुओं ने हाथ जोड़कर विनय पूर्वक उन्हें रोका। चारों वधुओं ने कुमार के वैरागी हृदय को परख लिया कि 'अब कुमार डिगने वाले नहीं हैं।'

अत: नवपरिणीता वे वधुयें बोलीं - ''हे स्वामिन्! हम सभी ने आपको निहार कर ऐसा अनुभव किया कि मानो स्वामी के विशाल नेत्रों में चंचलता रहित अत्यंत शांत एवं गंभीर समुद्र लहरा रहा हो। मानो साक्षात् मुक्तिपति ही हमारे स्वामी हुए हैं। हे मुक्तिपति! हम चारों अनाथ दासियों के नाथ! हम सब आपको देखकर एवं आपका समागम पाकर कृतार्थ हो गए हैं। हमारे नयन आपको देखकर पवित्र हो गये हैं। हे स्वामिन्! हमें अपने सत्संग से कृतार्थ कीजिए।''

तब कुमार जाते-जाते कुछ रुके और पुन: पद्मासन लगाकर बैठ गये। बैठे हुए कुमार की नासाग्र दृष्टि आत्मानंद में तृप्त मुद्रा देखकर ऐसा लगता था, मानो वस्त्रोपसर्ग वेष्टित मुनिराज ही विराजे हों। उन्हें देख चारों कन्याओं का मन अत्यन्त निर्मलता को प्राप्त हो गया। शास्त्रपाठी अत्यन्त निपुण चित्त वाली पद्मश्री साहस करके मधुर वचनों में बोलने लगी - ''हे चरमशरीरी नाथ! आप जैसे अध्यात्म रस में रँगे-पगे साक्षात् द्रव्यभगवान को अपने पति के रूप में पाकर हम चारों प्रमुदित हैं। हमारी स्त्री पर्याय सार्थक हो गयी है। वैसे भी हमारे चित्त में आपके सिवाय अन्य किसी की अभिलाषा नहीं थी, अत: अब हम भी आपके चरणारविन्द में आत्मसाधना करना चाहते हैं। हे नाथ! हम सभी आपका अनुसरण करते हुए आत्म-अभ्यास करके श्री वीरप्रभु द्वारा दर्शाये गये परम पवित्र जिनशासन

को आत्मसात् करना चाहती हैं। हम सब भी एक दिन सिद्ध-शिला के अधिकारी हों। हे नाथ! हम सभी प्रमुदित चित्त से आपके चरणारविन्द का दासत्व स्वीकार करती हैं। हमें अंगीकार करके कृतार्थ कीजिए।''

तब विरक्त-चित्त कुमार बोले - ''हे भद्रो! हे भव्यों! आप सभी के विरक्त-चित्त एवं आत्म-साधना के परिणामों को देखकर मुझें अत्यन्त प्रसन्नता हुई है। मैं आप सभी के मंगलमयी परिणामों की अनुमोदना करता हूँ। आप चारों धन्य हो कि जगत में जिससमय विषय-भोगों एवं राग-रंग की वार्ता चलती है, उस अवसर में भी तुम्हारा चित्त अध्यात्म चर्चा को चाहता है, आत्महित की बात सोचता है। निश्चित ही तुम सभी निकट भव्य हो। तुम सभी की मंगल भावना को जानकर मुझे भी अपनी विरक्त परिणति के बारे में बतलाते हुए प्रमोद होता है कि मेरा परिणाम भी इन विषय-भोगों एवं संसार के दु:खों से उदास है और मैं प्रात:काल की पावन बेला में ही पूज्य श्री सुधर्माचार्यजी के चरणारविन्द में जाकर पावन जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगा। मैं समझता हूँ कि तुम सब भी इसे जानकर प्रसन्न होगी, हमारे इस परिणाम की अनुमोदना करोगी एवं स्वयं भी आत्महित में लगोगी।''

कुमार के इसप्रकार कहते ही चारों वधुओं के मुख से सहज ही निकल पड़ा - ''हे स्वामिन्! आपकी मंगलमयी परिणति जयवंत वर्तो। हमें आपके वैराग्य को जानकर परम हर्ष है।''

तभी कनकश्री बोली - ''हे स्वामिन्! हम सब भी आपके सान्निध्य में आत्महित की अभिलाषी हैं, परन्तु हम अबोध बालायें कुछ समय तक आपका सत्समागम इच्छती हैं। हे स्वामिन्! आप कुछ समय ठहर कर हमें प्रतिबोधित करने के बाद ही दीक्षा धारण करें। हमें रत्नत्रय ग्रहण कराने में निमित्तभूत होवें, तब हम सभी भी आपके साथ दीक्षा धारण कर लेंगे। हे स्वामिन्! हमारे ऊपर उपकार कीजिए।''

तब विरक्त कुमार बोले - ''हे भद्रे! तुम्हारा विचार कथंचित् उचित ही है, परन्तु आत्मार्थी-पुरुषार्थी कभी भी निमित्तों की प्रतीक्षा नहीं करते हैं, उन्हें तो एक-एक समय बहुमूल्य रत्नों से भी अधिक कीमती लगता है। इसलिये हे भद्रे! यदि तुम्हारे पास तत्त्वनिर्णय

का बल है और तुम सभी यह श्रद्धान रखती हो कि हम अपना हित करने में समर्थ हैं तो तुम्हें एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। रही बात विषय-भोगों की, गृहस्थी में रहने की तो महापुरुष कहते हैं -

कीचड़ को लगाकर धोना क्या ?
कूद अग्नि में रोना क्या ?

अत: मैं तो अवश्य ही प्रात:काल जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगा।

तब विनयश्री बोली - "हे नाथ! आपका कहना सचमुच ही ठीक है, परन्तु अभी तक हम सभी के इन अत्यन्त कोमलांगों ने समस्त इन्द्रियों की अनुकूलता भोगी है और प्रचुर आत्म-साधना करना तो अत्यन्त दुर्धर कार्य है, हम अभी आपके साथ वन-खण्डादि में जाकर कठोर तप कैसे कर सकती हैं? अत: हम धीरे-धीरे अणुव्रत को धारण कर आत्माभ्यास करेंगी, फिर हम आपके साथ-साथ दीक्षा धारण कर सकेंगी, तब तक तो आपका रुकना उचित ही है।"

तब कुमार बोले - "हे बुद्धिमते! भले ही तुम्हारा कहना उचित है, लेकिन समुचित नहीं है। सीताजी एवं अंजनाजी ने कहाँ धीरे-धीरे अभ्यास किया था? यह बात सत्य है कि दर्शनमोह एकसाथ जाता है एवं चारित्रमोह क्रम-क्रम से जाता है, परन्तु सुकुमालजी ने कहाँ धीरे-धीरे अभ्यास किया था? फिर भी आत्मस्वरूप में सावधान होकर अकम्प तप को तपा था। इसलिये जिनके परिणाम निर्मल न हुए हों, जिनका भव-भय-भीरु चित्त न हो, वे कदाचित् धीरे-धीरे आत्माभ्यास करें तो भले करें, परन्तु मेरा चित्त तो अब एक क्षणमात्र भी रुकने के लिए तैयार नहीं है। अरे रे! धिक्कार है ऐसे भोगों को कि जिनका फल नरक-निगोद है।"

तब विनयश्री बोली - "हे चरमशरीरी, तद्भव मोक्षगामी जीवराज! आपकी इसी भव में मुक्ति तो नियम से होने ही वाली है, फिर आपको कुछ समय और रुकने में क्या आपत्ति है? कोई पर-पदार्थ या हम आपके हित में बाधक तो हैं नहीं, संयोग तो कुछ जबरन संयोगी भाव कराते नहीं, फिर संयोगों से बचने की इतनी प्रबल भावना क्यों?"

कुमार बोले - "हे विरक्तचित्ते! तुम विरक्ति को छिपाकर व्यर्थ ही बातें करती हो। यह बात तो परम सत्य है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भला-बुरा नहीं करता। संयोग नहीं, परन्तु संयोगी भाव ही बुरा करते हैं और असंयोगी (वीतरागी) भाव भला करते हैं। तथा जब तुम यह जानती हो कि मेरी इस भव में मुक्ति निश्चित है, तो फिर भोगों में नहीं फँसना एवं दीक्षा भी तो निश्चित ही है। कोई एक ही पर्याय निश्चित नहीं होती, परंतु प्रत्येक द्रव्य की अनादि-अनंत काल की सभी पर्यायें निश्चित होती हैं। फिर तुम वस्तु-स्वरूप को बदलने का निष्फल प्रयत्न क्यों करती हो?

जरा, तुम ध्यान से सुनो - क्या इस संसार में जन्म-मरण के अनन्त दुःखों से तुम्हारा चित्त व्यथित नहीं हुआ है? क्या जगत के दुःख तुम्हें प्रत्यक्ष ही नहीं दीखते हैं? क्या आकुलता-व्याकुलता, संक्लेश आदि तुम्हें प्रत्यक्ष ही दुःखरूप भासित नहीं होते? सचमुच ही ये दुःखरूप हैं। अरे, रे! नरक-निगोद एवं चार गति, चौरासी लाख योनियों के दुःखों से मेरा आत्मा थक चुका है, अब तो मुझे मात्र मुक्ति की ही अभिलाषा है, अन्य किंचित् भी कोई भावना नहीं है।"

जो चहुँगति दुःख से डरे, तो तज सब परभाव।

तब पद्मश्री बोली - "हे स्वामिन्! जिनशासन एवं आचार्यों की देशना में तो ऐसा आया है कि जो पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है, उसको सच्ची उदासीनता नहीं है। सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है, जहाँ वीतराग होकर कोई पर-पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित ही न हो। यदि स्वर्ग-मोक्ष के लोभ से और नरक-निगोद के प्रति भय के कारण विषय-भोगों से उदासीन हो जाओगे तो यह द्वेषगर्भित उदासीनता होगी, जो अकार्यकारी है। अतः कुछ समय और ठहर कर आत्म-साधना करके रत्नत्रय प्रगटाकर जिन-दीक्षा धारण करोगे तो उचित ही होगा नाथ!"

तब किंचित् मुस्कुराते हुए कुमार बोले - "हे आगमकुशले! यह बात सत्य ही है कि कोई पर-पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है, और द्वेषरूप उदासीनता सच्ची उदासीनता नहीं है; परन्तु मैं कोई तुमसे अथवा भोग-सामग्री से द्वेष करके अथवा मोक्षादि के लोभ से विरक्त

नहीं हुआ हूँ। लेकिन अब मेरा मन आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का प्रचुर स्वसंवेदन करने के लिये, आत्मा का निरन्तराय एवं निराबाध भोग करने के लिये तथा वन-खण्डादि में जाने के लिये तड़फ उठा है। जिसे आत्मा ही सुखरूप-आनंदमयी भासित हो रहा हो, जो सदा उसमें ही मग्न रहना चाहता हो, उसे द्वेषरूप उदासीनता नहीं है।"

पुनः विनयश्री बोली - "हे नीतिज्ञ नाथ! क्षमा करें, इस अल्प वय में इसप्रकार भोगों को छोड़कर जाने में तो आपकी भावुकता भासित होती है, परन्तु भावुकता में जितने जल्दी जीव का उत्कर्ष होता है, उससे भी कहीं जल्दी पतन हो जाता है। इसलिये हे स्वामिन्! आप धर्मज्ञ हो, मैं आपको क्या नीति सिखा सकती हूँ? आप मुझे क्षमा करें। हे नाथ! यह जिनशासन परम पवित्र है, निष्कलंक है, इससे अनन्ते जीव तिरे हैं। यदि हमारी भावुकता या जल्दबाजी के कारण हमारे आचरण में किंचित् भी शिथिलता या मलिनता हुई तो यह परम पवित्र जिनशासन कलंकित हो जायेगा। नाथ! क्या पवित्र जिनशासन को कलंकित करने में अपनी शोभा है? नहीं, नहीं, कदापि नहीं नाथ! अतः आप हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए हम पर अनुग्रह कीजिए।"

तब कुमार बोले - "हे गंभीर चित्ते! आगम का यश धरनहारी! तुम्हारे गंभीरतापूर्ण विचार प्रशंसनीय हैं। आगम तथा जिनशासन की पावन मर्यादाओं के उल्लंघन का भय जो तुम्हें है सो समुचित ही है, परन्तु भावुकता की क्या पहचान है? जिनके पास सचमुच आत्म-प्रतीति है, दृढ़ तत्त्व-श्रद्धान है और जिनशासन का परम विश्वास है, उनके जीवन में शिथिलता नहीं होती। जिनका चित्त स्वभाव में अत्यन्त सावधान है तथा विभावों का अत्यन्त भय है और स्वरूप में जिनकी बुद्धि अत्यन्त निमग्न है, सचमुच वे भावुक नहीं होते हैं। ध्यान रखो, भावुकता का संबंध देह अथवा उम्र से है ही नहीं। एक आठ वर्ष का बालक यदि आत्मानुभवी है, आत्म-प्रतीतिवंत है, आत्मज्ञानी है तो वह भी गंभीर है, दूसरी ओर साठ वर्ष का व्यक्ति यदि आत्मज्ञानी-तत्त्वज्ञानी नहीं है तो वह भी भावुक है। मेरे पास दृढ़ आत्मश्रद्धान है, रत्नत्रय की शोभा है, अतः किंचित् भी भावुकता

के भय से मैं इस संसार में रुकना नहीं चाहता हूँ।''

तब रूपश्री तुनककर अन्य रानियों से बोली - ''तुम लोगों को क्या हो गया है? क्या तुमने तत्त्वचर्चा करने के लिए ही विवाह किया है? इसतरह तो स्वामी अवश्य ही दीक्षा धारण कर लेंगे।''

उसकी आँखों में आँसू भर आये, वह पुनः बोली - ''नहीं-नहीं, जरा स्वामी को दृष्टि उठाकर हमारे रूप-सौन्दर्य को तो देखने दो। अरे देखो तो कैसे बाल-ब्रह्मचारी यतीश्वर की तरह नासाग्र दृष्टि से बैठे हैं।''

आकुलित स्वर में काँपती-सी बोल रही थी रूपश्री - ''अरे रे! धिक्कार है तुम्हारे पत्नीत्व को। क्या तुम भूल गईं गृहस्थ धर्म के विवेक को? अरे! आत्मा-आत्मा और वैराग्य की बातें छोड़ो! क्या तुम वैराग्य की बातें करके स्वामी को वन-जंगल में जाने का आमंत्रण नहीं दे रही हो? अरे! पति को अपनी ओर ढालना क्या हमारा कर्तव्य नहीं है? हे स्वामिन्! वैराग्य की बातें भूल जाइये - अभी आप हमारे हैं, हमारे प्राणाधार हैं। हम अभी आपको वन में नहीं जाने देंगी, दीक्षा नहीं लेने देंगी। प्राणनाथ! आप मेरी बहिनों की बातों को चित्त से उतार कर हम पर प्रसन्न होकर उपकृत कीजिए।''

तब अत्यंत गंभीर होकर, शांत चित्त होकर कुमार बोले - ''हे विह्वल चित्ते! हे विषय-भोगों में रंजायमान बुद्धि की धारक! सचमुच तुम्हारे तीव्र मोह का उदय भासित होता है, जो तुम्हें आनंदमयी आत्मा की बात नहीं सुहाती, साक्षात् नरक-निगोद एवं विषय-भोगों से दूर ले जानेवाली साक्षात् मुक्तिदाता ऐसी चर्चा, जो रत्नत्रय का कारण है, आनंद का कारण है। क्या यह चर्चा तुम्हें नहीं सुहाती है?

अरे! अब तुम ही सोचो - क्या यह भव तुम्हें भव बढ़ाने के लिए मिला है? नहीं, नहीं भद्रे! यह भव तो अनंत भवों का अभाव करने के लिए मिला है। और जहाँ तक विषय-भोगों की बात है तो इन्हें हमने कब नहीं भोगा? अरे! यह क्रीड़ा तो

पशुसम है, असंख्यात पशु एवं समस्त प्राणी इसे करते हैं। इसमें तुम्हारी क्या विशेषता है? इसमें कौन-सा कीर्तिमान है? इसमें कौन-सा सौभाग्य है, जिसमें संलग्न रहने के भाव तुम करती हो? अरे! पापी प्राणी भी जिसे भोगने के बाद अपने को निंद्य अनुभव करे - ऐसे भोगों की कल्पना! अरे रे! दुष्कृत हो, दुष्कृत हो!

रे भोग-निपुण-मति! शांत-चित्त होकर, भोगों से उदासीन होकर, अपनी आत्मा की अनंत सामर्थ्य को पहचानो। अपने आत्मा की अनंतगुणमयी सत्ता को पहचानो। जैसे आत्मप्रतीति से शून्य वह राजा विषय-भोगों में मरकर विष्टा का कीड़ा हुआ; इसीतरह यदि तुम्हारे पास रत्नत्रय न आवे, जिनशासन न सुहावे, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति तुम्हारे चित्त में न रहे एवं आत्म-प्रतीति से शून्य रहकर यदि विषय-भोगों में ही जीवन निकल गया तो तुम भी कीड़े-मकाड़ों की तरह अनंत कष्टों को भोगने तैयार हो जाओ? क्या तुम्हें वह शोभा देगा? क्या तुम अब भी इन दु:खों को उठाना पसंद करोगी?''

तब विरक्त-चित्त से तीनों रानियाँ बोलीं - ''नहीं स्वामिन्! नहीं, हमसे तो ये दु:ख नहीं सहे जायेंगे।''

परन्तु किंचित् लज्जित होती हुई रूपश्री बोली - ''हे नाथ! क्षमा करें, मेरा अभिप्राय न आपको ठेस पहुँचाने का है और न आत्म-हित का घात करने का है, लेकिन एक बात मैं अवश्य पूछना चाहती हूँ कि तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती आदि ने भी तो विवाह किया था, उन्होंने भी तो गृहस्थाश्रम में आत्महित किया था; उसीप्रकार हम भी गृहस्थ धर्म अपना कर आत्महित करें तो क्या अनुचित है।''

तब कुमार बोले - ''हे नम्रचित्ते! उनके परिणामों की बात वे ही अनुभव कर सकते हैं। उन्होंने अपने परिणामों के योग्य कार्य किया। लेकिन मेरा मन इन विषय-भोगों को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। मुझसे अब विलम्ब सहा नहीं जाता है। मैं तो शीघ्र ही वन-जंगल में जाकर सहज आनंदमयी शाश्वत सुख को अवश्य ही प्राप्त करना चाहता हूँ।''

तब कनकश्री बोली - ''हे मुक्तिवंत! आपका कहना सुयोग्य

ही है, परन्तु अभी हमको रागादि विकल्प बहुत उठते हैं। हम वन-खण्डादि में बिना आत्माभ्यास के कैसे जा सकती हैं? और आपके बिना महलों में भी कैसे रह सकती हैं?

तब कुमार सावधान चित्त होकर बोले - "अनादि से इस जीव को रागादि के उत्पन्न होने की ही चिन्ता है। क्या तुमने श्री वीरप्रभु की दिव्यदेशना नहीं सुनी है कि ***'मेरे आत्मस्वभाव में विभाव असत् होने से मुझे उसकी चिन्ता नहीं है, समस्त परद्रव्यों और नाना प्रकार के विभाव भावों की मुझे चिन्ता ही नहीं है, क्योंकि वे रागादि उत्पन्न होने पर भी भिन्न ही हैं और मैं ज्ञानानंदमयी सत्ता उनसे भिन्न ही हूँ।'*** इसप्रकार रागादि की चिंता करना व्यर्थ ही है। और फिर थोड़े से विकल्पों से भयभीत होकर विकल्पों के समुद्ररूप गृहस्थी में कूदना तो महा अपराध है। ये तो ऐसा हुआ कि कोई व्यक्ति थोड़े पानी में डूबने से डरकर उससे बचने के लिए समुद्र में ही कूद जाये। नहीं, नहीं, ये तो शोभा नहीं देता।"

इसप्रकार शुद्धाचरणमय जम्बूकुमार ने सभी पत्नियों को समाधान करते हुए सन्तुष्ट कर दिया, परन्तु इसी बीच विह्वल होती हुई, आकुलित चित्त वाली रूपश्री बोली - "परन्तु स्वामी गृहस्थी में रहना कोई अपराध थोड़े ही है।"

तब कुमार बोले - "हे भद्रे! धन्य वे नही हैं, जिन्हें गृहस्थी बसानी पड़े; अपितु धन्य वे हैं, जिन्हें गृहस्थी की आवश्यकता ही न हो। आत्महित का एकमात्र मार्ग तो सकल संयम है। यदि हमारे सिर पर पवित्र जिन-शासन है, तत्त्व-प्रतीति है, कषाय मंद है, परिणाम निर्मल हैं तो हमें गृहस्थी से क्या प्रयोजन है? पंचेन्द्रिय के विषयों में आनंद मानने वाले तो ठीक ऐसे हैं, जैसे कोई पुरुष गर्मी से आतापित - दुखित होकर उबलते हुए पानी के कूप में कूदकर शीतलता का अनुभव कर अपने को सुखी माने। अरे रे! ऐसे दुःखमयी भोग त्याज्य ही हैं, घृणा करने लायक हैं।"

तब विनयश्री बोली - "हे नीतिज्ञ पुरुष! आज ही तो आपने हम सबके साथ पवित्र जिनशासन के प्रवर्तक पंच-परमेष्ठी एवं श्रमण-संस्कृति की साक्षी में पाणिग्रहण किया है, वहाँ आपने जीवनपर्यंत हमारे संरक्षण

एवं भरण-पोषण का वचन दिया है। अत: हे स्वामिन्! यह आपका पवित्र कर्तव्य है कि आप माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा करते हुए गृहस्थ-धर्म का पालन करें एवं आत्महित भी करें।

अन्यथा यदि आप इतने शीघ्र ही वचनों का उल्लंघन करेंगे तो लोग क्या कहेंगे? क्या हम इतने अभागे हैं कि आपके धर्म-वात्सल्य के पात्र भी न बन सकें? क्या आपको हमारे ऊपर किंचित् भी करुणा नहीं है? क्या आपका हमारे प्रति किंचित् भी कर्तव्य नहीं है? हे स्वामिन्! कृपया हमारी ओर देखिए एवं गंभीरतापूर्वक विचार कीजिए। आप तो चरम-शरीरी हैं, किन्तु हमें तो इस भव से मुक्ति नहीं है। (आँखों में आँसू भरकर) अत: हे नाथ! अब आप ही बताइये कि हम क्या करें?''

कुमार बोले - ''हे आर्ये! तुम्हारे परिणाम व्यर्थ ही खेद-खिन्न हो रहे हैं, तुम व्यर्थ ही व्याकुल मत होओ। अपनी विरक्ति को वृथा ही मत छिपाओ। शांत होओ, शांत होओ, तत्त्व का विचार करो, तुम तत्त्वनिपुण भी हो।

हे भद्रे! जब मैंने तुम्हें सात-सात वचन दिये थे, तब गृहस्थाचार्य ने जो मंत्र पढ़े थे सो उनका आशय ऐसा था कि मुनिदीक्षा अथवा समाधिमरण के परिणाम उत्पन्न नहीं होने तक मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। अब मेरा जैनेश्वरी दीक्षा धारण करने का परिणाम हुआ है, अत: नीति के अनुसार भी अब मैं तुम्हारे वचनों से मुक्त हुआ हूँ और लोक-नीति एवं आगम की मर्यादा का भी मैंने उल्लंघन नहीं किया है। तथा अपने कर्तव्य से भी मैं भलीभाँति परिचित हूँ। लोक में आत्महित से बढ़कर और कोई कर्तव्य नहीं है। भद्रे!, विषय-भोग वास्तव में कर्तव्य नहीं हैं, परन्तु एक अपराध की सजा है और आत्मानुभव नहीं होना ही अपराध है।

गृहस्थ जीवन अत्यन्त पराधीनता का नाम है, अत्यन्त दु:ख का नाम है। ऐसे जंजाल में फँसकर मैं भव नहीं बढ़ाना चाहता। यह भव व्यर्थ गँवाना भी नहीं है और यह भव जिस-तिस प्रकार काटना भी नहीं है। बस, यह भव तो मुझे अनंत भवों का अभाव करने को मिला है। इसमें लोक-हँसी का कुछ कारण भी नहीं है, अत: लोक भी हँसी क्यों करेंगे? और फिर त्रिलोक्य-पूज्य मार्ग अपनाने

में लोक की चिंता कैसी? अरे! इस पर भी लोक हँसी करे तो मुझे उसकी चिंता नहीं है।''

तब अत्यन्त विनम्रतापूर्वक विनयश्री बोली - ''हे नाथ! आपका कहना सर्वथा सुयोग्य ही है, परन्तु यदि हम ब्रह्मचर्य धारण कर गृहस्थी में रहें एवं सदा तत्त्व-अध्ययन कर आत्म-अभ्यास करें, अणुव्रतरूप रत्नत्रय को धारण कर हम भाई-बहन जैसे रहकर आत्महित करें, तब तो आपको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। आपके मार्ग में हम बाधक भी नहीं होंगे, अब तो आप हम पर प्रसन्न होइये।''

कुमार बोले - ''हे कोमलचित्ते! हे आर्ये! निश्चित ही तुम्हारे परिणाम अध्यात्मरस में भीगे हैं, तुम्हें आत्महित की तीव्र अभिलाषा भासित होती है। तुम्हारे ये मंगलमयी परिणाम अवश्य ही फलीभूत हों। परन्तु बहाना कोई भी हो, कारण कोई भी क्यों न लिया जाय; वह कारण, वह युक्ति, वह न्याय और वे समस्त तर्क अन्याय हैं; जो मुझे गृहस्थी में रुकने के लिए प्रेरित करें।

तुम ऐसा अन्याय मेरे साथ क्यों कर रही हो, तुम तो पत्नी हो, तुम्हें तो पति को पतन से बचाकर पति के उत्थान एवं हित की रक्षा करना चाहिए। तुम्हीं कहो, मैं जितने काल तक गृहस्थ जीवन में रहूँगा, उतने काल तक मैं प्रचुर स्वसंवेदन से वंचित रहूँगा या नहीं? रहूँगा, अवश्य रहूँगा। पूज्य पद की पवित्र अनुभूतियों से वंचित रहूँगा। प्रत्येक क्षण होनेवाली असंख्यात गुणी निर्जरा से भी मैं वंचित रहूँगा। आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद के निरंतराय-निराबाध भोग से मैं वंचित रहूँगा। पूज्य गुरुवर द्वारा प्रदत्त ज्ञानाराधना से मैं वंचित रहूँगा। पंचाचार में परायणता से मैं वंचित रहूँगा।

क्या तुम्हें मेरे आत्मीय दु:ख को देखकर प्रसन्नता होगी? क्या तुम्हें प्रमोद होगा? क्या तुम्हारा यही कर्तव्य है? क्या तुम मुझे उदास, घुटता हुआ देख सकोगी? क्या तुम मुझे मेरा आत्मिक इन्द्रियातीत आनंद दे सकोगी? क्या तुम मुझे क्षण-क्षण में गृहस्थी की आकुलता-व्याकुलता में झुलसता हुआ मुझे देख सकोगी?''

तब समस्त रानियाँ तत्काल ही बोलीं - ''नहीं, कदापि नहीं नाथ! हम आपके आत्म सुख में बाधक बनकर तो जीवित रहना

तो दूर, कल्पना मात्र करने के लिये भी जीवित नहीं रहना चाहेंगी।''

पश्चात् प्रसन्न-चित्त कुमार शांत होकर आत्म-विचारों में निमग्न हो गये। तब रूपश्री बोली - ''आप हमारे प्राणाधार हो, हमारे प्राणों की रक्षा कीजिए, हम आपके बिना जीवित नहीं कर सकेंगी। हमने आजीवन आपकी ही शरण ग्रहण कर आपके चरणारविन्द में ही रहने की प्रतिज्ञा की है। हे स्वामिन्! हम पर अनुग्रह कीजिए।''

तब विरक्त कुमार बोले - ''कौन किस पर अनुग्रह करे? और कौन किसके आधीन है? जब समस्त द्रव्य स्वतंत्र हैं, किसी को किसी की आधीनता या अपेक्षा नहीं है, प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने में अनंत सामर्थ्य लिए हुए बैठा है, अनंत स्वाधीनतामय है, तब पराधीनता का विकल्प ही झूठा है।

हे भद्रे! क्या तुम्हें ये स्त्री पर्याय अच्छी लगती है? क्या ये दुख लगते हैं? क्या ये पराधीनता तुम्हें अब भी शोभती है? जब तुमने वीर-शासन पाया, जिन-शासन पाया, मंगलमयी वीतरागी वाणी पाई, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पाये, साक्षात् गुरुओं का समागम पाया और ऐसे उत्तम संस्कार पाये, क्या अब भी तुम्हें ये पराधीनता मिटाने का परिणाम नहीं आता है? अनादिकाल से पराधीनता और प्रतीक्षा के परिणाम और अपेक्षा ने ही तुमको ये दासत्व दिया है, उससे ही ये स्त्री देह मिली है। अब तो स्वाधीनता का अनुभव करो और निरपेक्ष होकर आत्मा का अनुभव करके इस स्त्री-पर्याय को छेदकर अल्पकाल में ही जिनदीक्षा धारण करके सिद्धालय में वास करो - इसमें ही एकमात्र तुम्हारी शोभा है।

हाय, हाय, स्त्रियाँ निमित्तों की प्रतीक्षा करती हैं, संयोगों में ही रहकर अपने को कृतकृत्य अनुभव करतीं हैं और उनकी यही परधीनता का परिणाम पराधीन देह और पराधीन भव का कारण बनता है। बचपन में माता-पिता की पराधीनता, उनकी प्रतीक्षा, उनकी आज्ञा के बिना कोई काम न कर सके। युवा होने पर पति की आज्ञा की प्रतीक्षा, उनसे पहले भोजन तक न कर सके, उनके आने पर उनके भोजन कर लेने के बाद ही भोजन कर सके, उनकी आज्ञा के बिना शयन भी न कर सके। तुम्हें कहीं तीर्थयात्रा या मंगलकार्यों में जाने की भावना हो तो पति की आज्ञा के बिना

जा न सके। हर बात में पराधीनता। तथा वृद्धावस्था में अपने पुत्रों के आधीन रहना पड़े - क्या ऐसी पराधीनता तुम्हें शोभती है?

क्या गृहस्थों की आकुलता-व्याकुलता, पराधीनता इस आत्म-सामर्थ्य के सामने शोभा देती है? और क्या तुम आत्महित करने में समर्थ नहीं हो? जो ऐसा पामर परिणाम बारंबार लाती हो? और अब रही मेरे समागम में आत्महित करने की बात तो कौन किसके समागम में आत्महित कर सकता है? जब हमारे सन्मुख हमारे गुरु हों - आचार्य-उपाध्याय-साधु हों, साक्षात् जिनदेशना हो, वहाँ परावलम्बन की आवश्यकता ही कहाँ शेष रह जाती है? इसलिए किसी भी प्रकार की कमी या अभाव का अनुभव किये बिना तुम आत्महित का साधन करो। यही एकमात्र उत्तम और पवित्र कार्य है। यही करने योग्य है।''

इतने में ही बात काटते हुए कनकश्री बोली - ''परन्तु स्वामिन्! हमको आत्म-अभ्यास करने के लिए कुछ तो समय दीजिए।''

''अभ्यास? कैसा अभ्यास? अभी-अभी हमने तुम्हें सुकुमालजी की बात कही थी, उनने कैसा अभ्यास किया था? परन्तु दूसरी ओर से देखा जाये तो क्या तुमने सांसारिक दु:खों को सहने का अभ्यास किया था? क्या तुमने नरक जाने का अभ्यास किया था? क्या तुमने पशु पर्याय के अनंत दु:खों को सहने का अभ्यास किया था? क्या माता के पेट में नौ-नौ महिने उल्टे मुँह लटके रहकर वहाँ की अगणित वेदनाओं को सहन करने का अभ्यास किया था? क्या तुमने सुहागन होने का अभ्यास किया था? क्या तुम विधवा होने का अभ्यास करोगी? इनमें से कौन-कौन से दु:खों को सहन करने का अभ्यास तुमने किया था? परन्तु तुम उन दु:खों को भोगती हो कि नहीं? ठीक, इसी प्रकार एकमात्र आत्मतत्त्व का निर्णय और अनुभव ही कर्तव्य है। शरीर का अभ्यास, अभ्यास करने योग्य नहीं है। उत्कृष्ट तीव्र वैराग्य के परिणाम हों तो बहिरंग देह के अभ्यास की किंचित् भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए अत्यन्त सावधान होकर अपने पवित्र परिणामों की पवित्रता बढ़ाओ, विरक्ति बढ़ाओ, परिणामों की रुचि और समर्पणता बढ़ाओ तो तुम्हारा हित अवश्य ही होगा।''

उससमय माताजी आकुलित चित्त से कमरे के बाहर यहाँ-वहाँ डोल रही थीं, वह आँचल में अपना मुँह ढककर जोर-जोर से रो पड़ीं और फिर विह्वल स्वर में जोर से बोलीं - "हे कुमार! तुम इतने कठोर क्यों हो गये हो? तुम बार-बार ऐसी हठ क्यों करते हो? कुछ समय के लिए तो तुम इसे भूल जाओ। कुछ समय के लिए तो इन वधुओं की ओर देखो। थोड़ी देर हमारी ओर भी तो देखो। क्या तुम हमें दुःखी करके प्रसन्न हो सकोगे? क्या हमने इसी के लिए तुम्हें पाल-पोषकर बड़ा किया है? क्या तुम्हारा ये कर्तव्य नहीं है कि यथायोग्य रीति से गृहस्थ-धर्म को पालते हुए हम सबका निर्वाह करो? अंत में हमारा समाधि-मरण सम्पन्न कराओ, क्या योग्य बालक का ये सब कर्त्तव्य नहीं है? हे पुत्र! सावधान होकर हमारी इस देह की ओर देखो और सन्निकट आती हुई मृत्यु की ओर देखो, हमें स्थिति-करण कराने में तुम ही समर्थ हो, हमें संबोधित करो। कुछ दिन तो रुको।"

माता का रुदन सुनकर कुमार एवं चारों वधुयें दौड़ी-दौड़ी बाहर आईं। तब कुमार बोले - "हे माते! आप इतनी दुःखी क्यों हो रही हो? आप तो धार्मिक रुचिवंत हो, शास्त्राभ्यासी हो। धैर्य धारण करो माते! शांत चित्त से सोचो माते! संसार में विषय-कषायों में रचे-पचे रहनेवाले कितने सुखी हैं? यदि संसार में सुख होता तो श्री शांतिनाथ आदि तीन तीर्थंकर तो तीन-तीन पदवियों के धारी थे, उन्होंने क्यों दीक्षा ली? उनके ऊपर तो छह खण्ड का भार भी था, फिर उन्होंने अपने कर्त्तव्य के सम्बंध में कुछ क्यों नहीं सोचा? अरे! सीताजी ने इतने छोटे-छोटे लव-कुश जैसे मोक्षगामी बच्चों के प्रति कुछ कर्त्तव्य नहीं सोचा?

अच्छा जाने भी दो उनकी बात, यदि हमारे इस परिवार में किसी की मृत्यु हो जाये तब कौन कर्त्तव्य निभायेगा? यदि आपका ही मेरे पहले गृहस्थी का राग छूट गया होता तो क्या आप मेरे प्रति अपना कर्त्तव्य निभातीं? सुकुमाल के पिताजी सुकुमाल का जन्म होते ही उसका मुख देखकर उसके ऊपर गृह की जिम्मेदारी सौंप कर तत्काल दीक्षित हो गये, क्या उनका कर्त्तव्य नहीं था कि बालक को बड़ा हो जाने तक गृह में रहते?

इसलिए माते! जिस कर्तव्य की बात आप करती हो वह बराबर है, परन्तु आप सभी प्रकार से सुयोग्य हैं। आपके कुटुम्बीजन आपके साथ हैं, घर-परिवार में किसी प्रकार की कमी नहीं है। घर में धन-धान्य की कमी नहीं है। तथा निकट में जिनमंदिर है, जहाँ पर निरंतर गुरुओं का समागम उपलब्ध रहता है, जहाँ नित्य प्रति तत्त्वचर्चा हुआ करती है और यहाँ पर किसी का कुमरण सुनने को नहीं मिलता है, समस्त ही श्रमण श्रमणोपासक अपनी आत्मसाधना द्वारा अणुव्रत और महाव्रतों का पालन करके समाधिमरण को स्वयमेव प्राप्त होते हैं, वहाँ इस छोटे से विकल्प का नाम लेकर आप मुझे क्यों रोकना चाहती हैं? हे माते! आप बिल्कुल व्यथित न होओ और अभी भी आत्महित में सावधान हो जाओ - यही मात्र हम सबका कर्तव्य है''

तब माता ने कुमार के सामने एक और समस्या रखी - ''लेकिन बेटा! तुम्हारे चले जाने से हमारी कुल-परंपरा का क्या होगा? तुम हमारे कुल में इकलौते कुमार हो और तुम्हारी संतान नहीं होगी तो हमारी कुल-परंपरा कैसे चलेगी? क्या हमारा कुल तुम्हारे साथ ही समाप्त हो जायेगा? क्या हमारी पीढियाँ ही समाप्त हो जायेंगी? क्या इस परिवार और गोत्र का भविष्य और कुल आगे नहीं चलेगा?''

तब कुमार अत्यंत मंद-मंद मुस्कुराते हुए मानो माता को मनाते एवं समझाते हुए बोले - ''हे माते! आपको ऐसा राग होना सहज ही है, माता को अपने पुत्र से बहुत-सी आशायें होती हैं; परन्तु हे माते! आप ही कहो - महावीर प्रभु अपने माता-पिता के इकलौते कुमार थे या नहीं? क्या उनका कुल नहीं चला? क्या उनका जिनशासन पंचम काल के अंत तक नहीं चलेगा? बोलो माते! बोलो! जैसे वे बाल ब्रह्मचारी रहे, वैसे श्री वासूपूज्यजी, श्री मल्लिनाथजी, श्री नेमिनाथजी, श्री पार्श्वनाथजी बालब्रह्मचारी रहे, तो क्या उनका नाम इस पृथ्वीतल पर जीवित नहीं है?

हे माता! यदि खोटी वासनाओं और पापों में रचे-पचे लोगों की बहुत सन्तानें भी हैं, परन्तु यदि वे आत्महित से विमुख हैं, विषय-वासनाओं में रंगी-पगी हैं, देव-शास्त्र-गुरु से विमुख हैं, आगम की मर्यादा से उल्लंघनमयी जिनका जीवन है। हे माते! उनके कुल

और गोत्र का नाम क्या इस पृथ्वीतल पर जीवित है? क्या लोग उनको सराहते हैं?

हे माते! जरा विचार करो - इस पृथ्वीतल पर किसका नाम रहा है? अनंत चौबीसियाँ व्यतीत हो गई हैं, अनंत जीव मोक्ष चले गए हैं, उनमें से कौन हैं जिनका नाम आप जानती हो। हे माते! भरत चक्रवर्ती जब छह खण्ड जीत कर आये और वृषभाचल पर्वत तर अपना नाम लिखने गये तो पूरी शिला चक्रवर्तियों के नाम से भरी पड़ी थी, उन्हें किसी अन्य चक्रवर्ती का नाम मिटाकर ही अपना नाम लिखाना पड़ा था। हे माते! आप ही बताओ कि आप कौन-सा नाम चाहती हो? कौन-सा नाम जीवित रह सकता है इस पृथ्वीतल पर?

सच पूछो तो आत्मशांति में डूबे हुए जीवों को नाम, प्रतिष्ठा, कुल एवं गोत्र की परवाह ही नहीं होती? इसलिए हे माते! आप व्यर्थ ही कुल की एवं पीढ़ी की बात कहकर मुझे वीतराग के पथ पर जाने से मना करती हो। हे माते! आप इतना उपकार मेरे पर अवश्य करो। आप ऐसी भावना करो कि आपके कोख से जन्मा ये लाल शीघ्र ही परमेष्ठी पद को प्राप्त करे, सांसारिक अनंत दु:खों को मेटे और जिन-देशना देकर जीवों का उपकार करे। हे माते! आपका पुत्र जीवों को मोक्षमार्ग में लगायेगा तो आप ही कहो क्या ये अच्छा नहीं होगा? क्या जिनशासन की प्रभावना होना आपको अच्छी नहीं लगेगी? क्या आपका पुत्र त्रिलोक-पुत्र हो जायेगा तो आपको अच्छा नहीं लगेगा?

मैं यदि घर में रुक भी जाता हूँ तो आप जैसे दस-पाँच लोंगों की ही प्रियता मुझे मिल सकेगी, परन्तु यदि मैं त्रिलोक-प्रिय हो जाऊँ तो क्या आपको इष्ट नहीं लगेगा? ऐसी कौन-सी माता होगी, जिसे अपने पुत्र की पूज्यता और त्रिलोक-प्रियता पसंद न होवे? इसलिए हे माता! विह्वल होकर नानाप्रकार की निष्फल चेष्टाएँ करके मुझे रोकने की कोशिश मत करो। इस हठ एवं मोह को तजो और जो आत्मज्ञान के संस्कार, रत्नत्रय की भावनाएँ मेरे जीवन में जन्म से ही आपने कूट-कूट कर भरीं हैं; उनमें ही सावधान होकर आत्म-साधना करो, रत्नत्रय को धारण करो, वीतरागियों के

पथ का अनुसरण करो और ममता को तजकर समता को धारण करो और वीतरागी पथ पर जाने के लिए आप सबकी सहर्ष आज्ञा दो।

विद्युच्चर चोर का प्रवेश

इसी बीच एक घटना घटी। ५०० चोरों के नेता विद्युच्चर नामक चोर ने सोचा - "आज ही जम्बूकुमार का विवाह हुआ है, तो वहाँ बहुत धन-सम्पत्ति मिलेगी, इसलिए आज वहीं जाया जावे।"

अतः वह चोरी की भावना से सेठ अर्हद्दास के महल में आया। लेकिन उसने देखा कि कुमार एवं रानियाँ विषय-कषाय को भूलकर धार्मिक तत्त्वचर्चा कर रहे हैं। तब वह सोचने लगा - "यह कैसा आश्चर्य? अज्ञानी जगत तो इस रात को विषयों में पागल रहते हैं और इस कुमार को क्या हो गया? भोग के समय योग कर रहा है। राग के बदले वीतरागता की वार्ताएँ हो रही हैं। ये राज्य-वैभव, ये भोग-सामग्री, ये चार-चार सुन्दर देवांगनाओं जैसी रानियाँ, उनकी हाव-भाव पूर्ण चेष्टाएँ भी इस सुमेरु कुमार को डिगा नहीं सकीं। अहो आश्चर्य! महा-आश्चर्य! इसका क्या कारण है? मैं अवश्य इसे जानकर रहूँगा।"

फिर वह अपने को धिक्कारता है - "अरे! जिसके पास न्याय-नीति से उपार्जित सब धन-संपदा एवं भोग उपलब्ध हैं, वह तो उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता और मैं अन्याय एवं चोरी से परधन को लूटना चाहता हूँ, मुझे धिक्कार है। आज से मैं भी इन चौर्य कर्म आदि पापों को छोड़ता हूँ और अब जो कुमार की गति होगी, वही मेरी गति होगी।"

- ऐसे विचारों में मग्न विद्युच्चर कुमार के कक्ष की खिड़की पर बैठा हुआ था। माता भी व्याकुल चित्त से घूम रही थी। वह देखती है कि यहाँ कोई व्यक्ति बैठा हुआ है। वह उसके पास पहुँचती है। विद्युच्चर चोर ने पहले ही आकर माता जिनमति के चरणों में प्रणाम किया और बोला - "हे माते! मैं विद्युच्चर चोर हूँ, मैं चोरी करने आपके यहाँ आया हुआ था। मैं पहले भी आपके महल से धन-सम्पदा चुरा कर ले गया हूँ, मगर आज कुमार एवं

रानियों की तथा आपकी चर्चा सुनकर मैंने चौर्य कर्म का त्याग कर दिया है। अब तो मेरी भावना मात्र इतनी ही है कि एक बार मुझे कुमार से मिला दीजिए, मैं अवश्य ही उन्हें समझाकर घर में रहने को तैयार कर दूँगा, मेरे पास ऐसी विद्या है।"

माता जिनमति तो यह चाहती ही थी कि किसी भी प्रकार से पुत्र घर में रह जाये। उन्होंने तुरन्त जम्बूकुमार के पास जाकर एक युक्ति बनाई - "हे पुत्र! तुम्हारे मामा, जो कि बहुत दिनों से परदेश गए हुए थे, आज वे आये हुए हैं और तुमसे मिलना चाहते हैं।"

मुक्तिकांता के अभिलाषी कुमार उदासचित्त से मामाजी के पास पहुँचे और बोले - "हे मातुल प्रणाम।"

तभी मामा (बने विद्युच्चर) ने अत्यंत स्नेहमयी दृष्टि डालते हुए एवं कुमार को हृदय से लगाते हुए कहा - "हे कुमार! हे बेटे! आपने श्री वीरप्रभु की दिव्य देशना तो सुनी ही है। उसमें दो प्रकार के धर्म का वर्णन आया है। एक गृहस्थ-धर्म और दूसरा मुनि-धर्म, तो तुम गृहस्थ-धर्म का पालन क्यों नहीं करते हो? मुनि-धर्म तो बहुत कठोर है, उसे पालना बहुत कठिन है और फिर तुम्हारी इतनी लघुवय है, कोमल शरीर है, तुम इतना कठोर कदम क्यों उठाते हो? अभी तो तुम्हारी आयु भी बहुत बाकी है। जब आपकी वृद्धावस्था आ जाये तब आत्म-हित करना, आत्म-साधना करना, महा कठोर मुनि-धर्म की साधना करना। आपको कोई मना नहीं करेगा, परन्तु अभी तो गृहस्थ-धर्म का पालन करो।"

तब जम्बूकुमार अत्यन्त मृदु शब्दों मे बोले - "हे मातुल! आप बहुत दिनों बाद मुझसे मिले हो और वह भी ऐसे प्रसंग में, इसलिए अत्यंत स्नेह की वर्षा मेरे ऊपर होना स्वाभाविक ही है; परन्तु हे मातुल! आप तत्वानुरागी हैं, अध्ययनशील हैं, जिनदेशना एवं उसके मर्म के आप जानकार हैं कि मार्ग तो एक ही प्रकार का है, परन्तु संसारी जीवों की दशा को देखकर उसका निरूपण दो प्रकार से किया गया है। जो जीव असमर्थ हैं, शारीरिक बल से कमजोर हैं, जिनके परिणाम अभी स्थिर होने में असमर्थ हैं और जो विषय-भोगों में रचे-पचे हैं; उन जीवों को आत्म-हित के साधन

के लिए अणुव्रत आदि का उपदेश दिया गया है, परन्तु आत्महित का तो एकमात्र उपाय महाव्रत या सकल-संयम को धारण करना ही है।

फिर मैं तो चरमशरीरी हूँ, मेरे तो इस भव में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना ही है, फिर क्यों न मैं पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त होकर वन-खण्डादि में जाकर आत्मिक प्रचुर स्व-संवेदन को प्राप्त होऊँ? क्यों न अनंत गुणमयी आत्मा का भोग करूँ? गृहस्थी के योग्य अणुव्रतों का उपदेश असमर्थ जीवों को है, हम जैसों को नहीं। सचमुच गृहस्थी बसाना तो पाप है, अपराध है, अनंत दुःख का कारण है; परन्तु वे गृहस्थ भी सकल संयम की भावना रखते हैं, गृहस्थी में रहकर भी सकल-संयम की साधना करते हैं, सकल-संयम के मार्ग को ही इच्छते हैं, उनकी बुद्धि भोगों मे किंचित् मात्र भी रमती नहीं है, इसी कारण से उस गृहस्थी के उस धर्म को अणुव्रत रूप धर्म कहा है।

वास्तव में गृहस्थी तो जंजाल है, अनंत दुःखों की भट्टी है, जहाँ निरन्तर संकल्प-विकल्पों की ज्वालाएँ भबका करती हैं। उसमें यह जीव आत्मा के भान रहित होकर झुलसता रहता है। इसलिये हे मातुल! गृहस्थ-धर्म और सकल-संयमरूप मुनि-धर्म का आप यथाविधि विचार करें।''

पुनः मामा (बने विद्युच्चर) बोले - ''हे बेटे! शिवकुमार भी एक वस्त्र सहित अपने ही महल के उद्यान में रहे थे, वे भी भिक्षा भोजन करते थे, जिससे सभी सुखी थे, आप भी ऐसा ही करिये।''

जम्बूकुमार ने जवाब दिया - ''हे मातुल! जब मैं सकल-संयम को धारण करने में समर्थ हूँ, तब फिर एक या आधे वस्त्र की जरूरत ही क्या है। दूसरी बात महापुरुषों का जन्मजात जीवन ही अणुव्रतियों के समान होता है, वे तो सीधे महाव्रत ही धारण करते हैं। मैं शूरवीर हूँ, कायर नहीं।''

इसप्रकार सभी को संतुष्ट करते हुए कुमार ने मौन का अवलंबन लिया। इतने में ही प्रातःकाल की सूर्य की किरण फूट पड़ी। चारों

वधुएँ आत्महित-कारक अभूतपूर्व चर्चा से लाभान्वित होती हुई, क्षोभ को तजकर विरक्त-चित्त होती हुई, अपने में कृतकृत्य अनुभव कर रही थीं। सभी प्रफुल्लता से आत्म-हित की साधना करने के लिए गंभीरता से विचारमग्न हैं।

अहो धन्य हैं वे वैरागी जम्बूकुमार, जिनके सत्संग से एवं चर्चा से चारों वधुओं का राग-रंग भी उतर गया एवं वे भी वीतरागता के रंग से सरावोर हो गईं।

इसप्रकार चारों वधुओं ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की - "हे स्वामिन! हमने सात फेरे खाकर आपके अनुगमन की जो प्रतिज्ञा की थी, उसे हम मुक्ति पर्यंत निभाना चाहती हैं। हमें भी आज्ञा दीजिए कि हम भी श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा दिग्दर्शित मार्ग पर, श्री वीरप्रभु की देशना में दर्शाये मार्ग पर चलकर आत्महित को प्राप्त हों। हम अब इस मार्ग पर चलने की उत्कृष्ट अभिलाषी हैं। आप हमें आज्ञा देकर कृतार्थ कीजिए।"

जम्बूकुमार ने प्रसन्नचित्त होकर कहा - "तुम सभी के मंगलमय परिणाम जयवंत हों, फलीभूत हों, साकार हों। तुम्हारे भी रत्नत्रय शोभायमान हो। हे भद्रे! हे आर्ये! हे विरक्त-चित्ताओं! हे मंगलमयी परिणाम की धारकों! तुम सबके अन्दर यह मंगलमयी रत्नत्रय सादि-अनंत काल के लिए शोभायमान हो - ऐसी मैं भावना भाता हूँ। मुझे प्रसन्नता है कि तुम चारों का चित्त भी विषय-भोगों से विरक्त होकर आत्मानुरागी हुआ है, आत्मा में निमग्न होना चाहता है। वह जयवंत वर्ते! जयवंत वर्ते!!"

इसी बीच माता फूट-फूट कर पुनः रो पड़ी - "हाय रे हाय! ये मैंने क्या किया? हाय रे दुर्निवार दैव! तुझे इन चारों सुकुमार कन्याओं पर भी दया नहीं आई? हाय हाय! इन चारों की उम्र अब कैसे बीतेगी? अरे रे! मैंने अपने हठाग्रह में इन चारों का जीवन बरबाद कर दिया। हाय रे! कोई भी माँ ऐसा हठाग्रह नहीं करना। यदि उनका पुत्र विरक्त हो तो उसका विवाह मत करना। अपने राग-रंग में रँगाने के लिए उसकी परीक्षा मत लेना। हाय! हाय! हे पुत्रियों! तुम्हारी असली अपराधिनी मैं हूँ। सारा अपराध मेरा है। हाय! हाय! अब मैं क्या करूँ? हे दैव! बचाओ! मेरी

रक्षा करो। मेरे बेटे को सद्बुद्धि दो। मेरी फूल-जैसी सुकोमल वधुयें वन-खण्डादि में तप को कैसे धारण करेंगी ? कैसी रहेंगी ?''

इतना कहकर माता फूट-फूट कर रोने लगी। तब चारों वधुओं ने उन्हें समझाते हुए उनको आसन पर बैठाया। कोई उनके पैर दबा रही है, कोई सिर दबा रही है तो कोई उनके अश्रु पोंछ रही है और कोई संबोधित कर रही हैं - ''हे माते! हम चारों का सौभाग्य है कि हमें ऐसे महा ज्ञानी-ध्यानी कुमार का समागम मिला। यदि किसी कामी पुरुष के समागम में गयी होतीं तो हम सभी अपने जीवन को लुटता हुआ ही पातीं, विषय-भोगों में हम अपना कीमती भव हार गयी होतीं। जिनशासन का पाना, देव-शास्त्र-गुरु का पाना हमारा व्यर्थ ही चला जाता। अनंत भवों में हमें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु मिले थे, हमने बाह्य द्रव्यलिंग भी धारण किया था। ग्यारह अंग, नौ पूर्व का ज्ञान भी किया था, परन्तु हे माते! आज जैसी विरक्ति, आज जैसा मंगलमयी परिणाम कभी नहीं पाया था।

आज हम सभी धन्य हो गयी हैं, हमारा यह विवाह सफल हो गया है। यदि हमारा विवाह कुमार से न हुआ होता तो आज हमें ये दशा, ये वीतरागी भावना न प्रगटी होती। मात्र एक रात्रि के समागम से, कुमार की निकटता से, उनकी आत्मा के तेज से, उनके तेज के प्रभाव से हम चारों का चित्त विषय-भोगों से हटकर आत्माराधना में लग गया है। हम विरक्त हो गयी हैं। ये विवाह हमारे लिए वरदान साबित हुआ है। माते! ये हमारा अंतिम विवाह है, अब हम शीघ्र ही स्त्री देह को छेदकर, सकल-संयम को धारकर मोक्ष प्राप्त करेंगी। इसलिए आप प्रमुदित हों, प्रसन्न हों, आपका किंचित् भी अपराध नहीं है। हमारा तो पहले से ही नियोग था, कुमार के साथ।

भगवान की दिव्य देशना से कुमार भी जानते थे। हम भी यह जानते थे और सभी जानते थे; परन्तु हे माते! हमने तो अपने विकल्प को मिटाने के लिए कुमार से विवाह किया था। हमने तो उनकी वैराग्य बोधक चर्चा से अपनी विषय-कामना मिटाने के लिए और विरक्त होने के लिए ही जान-बूझकर कुमार से विवाह किया था।

आज हम मात्र एक रात्रि की तत्वचर्चा के समागम से पवित्र हुई हैं, निर्मल हुई हैं। हमारा चित्त शांत हो गया है। हमें वैराग्य का मार्ग मिल गया है। हम किंचित् भी शिथिलता न करते हुए प्रात:काल की मंगल बेला में निकटवर्ती उद्यान में विराजमान पूज्य सुप्रभा आर्यिकाजी के निकट जिनदीक्षा धारण करने की भावना रखती हैं। आप हमें भी सहर्ष अनुमति प्रदान करके कृतार्थ कीजिए। हे माते! उपकार करो, अनुमति दो। हम चारों दासियाँ आपके चरणों की अधिक सेवा न कर सकीं, इसके लिए हमें क्षमा कीजिए, परन्तु आत्महित के सिवाय और कोई उत्तम मार्ग ही नहीं है।''

इतना सुनते ही माता विह्वल होकर रोने लगी। वह किसी वधु के माथे पर हाथ फेरती तो किसी वधु के गालों पर हाथ फेरती, किसी वधु को हृदय से चिपकाती तो किसी वधु के कपालों को चूमती हुई बोली - ''हे बेटा, कम से कम तुम तो दीक्षा धारण न करो। मैं अब किसके सहारे रहूँगी। कम से कम तुम्हें ही देख-देखकर तुम्हारे ही साथ में तत्त्वचर्चा आदि सत्समागम करते हुए स्थितिकरण को प्राप्त होऊँगी। तुम चारों यहीं रुको, वन-खण्डादि में जाकर अपने-आपको सजा मत दो, तुम यहीं मनोवांछित भोग भोगो।''

इसतरह नानाप्रकार से माता जिनमती उन्हें समझाने लगी।

लेकिन चारों वधुएँ बोलीं - ''हे माते! आप ही कहो कि क्या हमें यह शोभा देगा कि हमारे स्वामी वन-खण्डादि में वास करें और हम महलों में? हमारे स्वामी भूमि-शयन करें और हम कोमल सेजों पर शयन करें। हमारे नाथ योग धारण करें और हम भोगों में रहें? आप शोक छोड़कर हमें भवदधि-तारक जिनशासन की शरण में जाने दो। हम स्त्री-लिंग छेदकर सिद्धशिला हमारे स्वामी के मध्य ही नहीं, अनंत सिद्धों के मध्य वास करेंगी। हे माते! आज्ञा दो।''

जम्बूकुमार की दीक्षा

दृढ़ानिर्णयवंत, शाश्वत आत्मिक आनंद के पिपासु श्री जम्बूकुमार के लिये वह मंगल प्रभात उदित हो ही गया, जिसकी उन्हें चिर-प्रतीक्षा थी। मंगल प्रभात का मौन खुला तो इस रूप में खुला - ''हे

मेरे शरीर की जन्मदाता माता की आत्मा! अब मैं अपनी त्रिकाली माता ऐसी निजात्मा के पास जाता हूँ। मुझे आज्ञा दो!

हे इस शरीर के जनक की आत्मा! मैं अपने शाश्वत जनक के पास जाता हूँ। मुझे आज्ञा दो!

हे इस शरीर को रमाने वाली रमणियों! अब मैं अपनी त्रिकाली रमणी के पास जाता हूँ। मुझे आज्ञा दो!

मैं अपनी आत्मा को प्रचुर स्व-संवेदन से ओत-प्रोत करने हेतु वीतराग पथ पर प्रयाण करना चाहता हूँ। मैं अविलंब उस पथ पर जाना चाहता हूँ।

इस प्रकार जम्बूकुमार ने माता, पिता एवं पत्नियों से जिन-दीक्षा लेने की आज्ञा मांगी। कुमार के मुख को देखते हुए पिताजी विचार करते हैं - कुमार! तुम्हें धन्य है, तुम्हारा राग अब सादि-अनंत काल के लिए अस्त हो चुका है। अब तुम्हारे राग को पुनः जीवित करनेवाला इस जगत में कोई नहीं रहा, लेकिन हे पुत्र! ठहरिये, ठहरिये, हम तुम्हें मना नहीं करते, परन्तु यथा-योग्य विधि के साथ राजा सहित सम्पूर्ण नगरवासी तुम्हारे साथ वन को चलेंगे।"

श्रेष्ठी अर्हद्दास ने धर्मात्मा श्री श्रेणिक राजा के राजमहल में संदेश भेजा - "आपका वीर योद्धा जम्बूकुमार अब आत्मिक प्रचुर स्व-संवेदन की ढाल द्वारा द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म को परास्त करने तथा मुक्तिपुरी का राज्य लेने के लिए शीघ्र ही प्रस्थान कर रहा है।"

राजा श्रेणिक इस आकस्मिक समाचार को सुनते ही एकदम स्तब्ध से रह गये। वे विचारते हैं - "यह चरम शरीरी कुमार किसी के रोके रुकनेवाला नहीं है, इसलिए वहाँ जाकर उसे समझाना श्रेष्ठ नहीं हैं और राग तो आखिर दुःखदायी ही है, इसलिए जितनी जल्दी टूटे, श्रेष्ठ ही है। अब कुमार के वीतरागी भावों की हमें भी हर्षपूर्वक अनुमोदना करना चाहिए।"

अतः राजा ने शीघ्र ही पूरे नगर में कुमार के वन-गमन की भेरी बजवा दी। भेरी का मंगल नाद सुनते ही सभी नगरवासी राजमहल में एकत्रित हुए। पश्चात् श्रेणिक महाराज हाथी पर बैठकर गाजों-बाजों

की मधुर ध्वनियों सहित सभी जनों के साथ श्रेष्ठी अर्हद्दास के आंगन में पधारे। वे देखते हैं कि कुमार मोह-सेना को परास्त करने के लिए अर्थात् वैराग्य रस को शीघ्र प्राप्त करने के लिए कमर कस के तैयार हैं। अब उन्हें कुछ भी कहना योग्य नहीं है। श्रेणिक ने प्रथम तो वैरागी कुमार को हाथ जोड़कर वंदना की और फिर वे निर्निमेष कुमार के मुख को देखने लगे। 'धन्य हैं कुमार! आप वास्तव में **जो कम्मे सूरा सो धम्मे सूरा।** आपकी जीत निःसंदेह है।'

राजा ने वैरागी कुमार को अपनी भावना पूर्ण करने हेतु तथा दीक्षा-विधि का निर्वाह करने हेतु नवीन वस्त्रालंकारों से अलंकृत किया। चंदनादि से अंगों को चरचा, मस्तक पर मुकुट लगाया और जैसे इन्द्र सुमेरुपर्वत पर बाल जिनेन्द्र को ले जाता है, उसी तरह राजा ने भी जम्बूकुमार को दीक्षावन में ले जाने हेतु शोभा-यात्रा निकाली। उस समय कुमार ऐसे शोभने लगे, मानों मुक्ति-कन्या के स्वयंवर के लिए ही तैयार हुए हों। राजा एवं पिता आदि हाथ जोड़कर कुमार के सन्मुख खड़े हैं।

तभी कुमार ने 'ॐ' का उच्चारण कर वन-गमन की भावना व्यक्त की। राजा आदि ने उन्हें मनोज्ञ पालकी में पधराया और अपने ही हाथों से पालकी को उठाकर अपने ही कंधों पर रखकर वन के लिये प्रस्थान किया। सभी नगरवासी कौतुक भाव से इस दृश्य को देखने के लिए कुमार का जय-जयकार करते हुए वन को चल रहे हैं। धन्य हो कुमार, आपकी जय हो, जय हो! वैरागी कुमार का वैराग्य जयवंत वर्तो! इन्द्रिय-विजयी की जय हो! चरम-केवली की जय हो!

उसीसमय माता जिनमती बारंबार पुत्र को गद्‌गद् वचनों से कहती है - "हे पुत्र! कहाँ तो तेरा फूल जैसा कोमल वदन और कहाँ खड्ग की धारा के समान जैनधर्म का तप? हे बालक? तू दुःखदायी भूमिशयन कैसे करेगा? हे मेरे हृदय के हार! हे मेरे नयनों के तारे! एक बार तो अपनी माता की ओर देख!"

इस तरह विलाप करती हुई दुःख के सागर में डूब गई अर्थात् मूर्च्छित हो गई। अपनी सास को मूर्च्छित देखकर चारों वधुयें उनका

शीतलोपचार करने लगीं। नानाप्रकार के चदन आदि उपचारों द्वारा उन्होंने उनकी मूर्च्छा दूर की। तब वैराग्य-रस-पिपासु-वधुयें बोलीं - "हे माते! आप तो समझदार हो, जरा मोह को जीतिए। देखिए श्री सुकुमालस्वामी, वीर हनुमान जैसों की माता यशोभद्रा, अंजना आदि सभी ने अपने पुत्र के पथ को अपने जीवन का सार समझ कर अविलंब उसी मार्ग में प्रयाण किया, जो वास्तव में अनंत सुख का दाता है। अहो! यह वीतरागियों का पथ कितना अलौकिक है। अनादि काल से अनंत भव्य आत्माओं ने अपने जीवन का ध्येय या लक्ष्य-बिन्दु इसी पथ को बनाया था।

अरे, रे!... इस असंगी, निःसंगी, निरालम्बी एवं स्वावलंबी मार्ग की कल्पना भी मोहियों को कैसे हो सकती है? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। हे माते! हम अपने पूर्वभवों को तो छोड़ें, मगर वर्तमान भव में स्त्री, पुत्र, पति, धन, वैभव, राज-पाट आदि अनन्त पर-पदार्थों में मोह कर ही रहे हैं। भला इससे अपने को क्या मिला? क्या कभी हमने निराकुलता की सांस भी ली है? क्या सच्चे सुख की कभी कल्पना भी की है? क्या कभी निर्ग्रन्थों के पंथ की बहार का भी आनंद देखा है? क्या कभी आत्म-दर्शन करके आत्मिक आनंद का स्वाद भी चखा है? यदि नहीं तो अब भी अपने को समय है। चलो, क्यों न अभी ही यह कार्य प्रारंभ कर दिया जाये?"

माता जिनमती पुत्र-वधुओं की आत्महित कारक आनंद दायक बातों को सुनकर मन को शांत करती हुई बोली - "हे दुर्दैव! तूने मुझे पुत्र-विहीन तो किया ही है, परन्तु क्या वधुओं से भी विहीन करेगा?"

कुछ समय बाद अपनी सास को स्वस्थ देख चारों वधुयें बोलीं - "हे माते! हम चारों ने भी आपको अपनी भावना पहले ही बतलाई थी कि हम सब भी आनंदमयी वीतरागी पंथ में विचरण करके भव के अंत को पाकर अनंत काल तक लोक के अंत में शाश्वत आत्मिक आनंद को भोगेंगी।"

तब माता जिनमती उन्हें समझाते हुए बोलीं - "अरे बेटियों! तुम भी बारंबार ऐसा हठ क्यों करती हो? तुम्हारा यह विचार बिल्कुल विवेकपूर्ण नहीं है। तुम्हारा यह सुकुमाल अंग वन-जंगल की सर्दी,

गर्मी, भूख प्यास और असहनीय उपसर्ग-परीषहों को कैसे झेलेगा? तुम लोग कभी जमीन पर सोने की बात तो दूर, बैठी भी नहीं हो तो फिर वन-खण्ड में कंकड़ एवं कांटों के बीच कैसे शयन करोगी? कैसे बैठोगी? जेठ मास के मध्याह्न के सूर्य की अति आताप-दायिनी किरणों को ये कोमलांग कैसे सहन कर सकेंगे? नहीं, नहीं, बेटियों! तुम सभी इस विचार को विस्मृत कर दो, भूल जाओ। हे पुत्रियों! मेरा पुत्र तो चला ही गया है, क्या अब इस राज्य को भी उजाड़ करना है? बेटियों! तुम्हारा यह कर्तव्य नहीं है। तुम लोग यहाँ रहो, सभी को धार्मिक अमृत-पान कराओ और अंत में मेरा समाधि पूर्वक मरण सम्पन्न कराना।''

वे बोलीं - ''हे माते! इस जीव ने अनादिकाल से अनंत-अनंत अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों को पाया है और अपने निजस्वरूप को भूलकर उनमें हर्ष-विषाद करके दुःख बढ़ाया है। ये सम्पूर्ण जड़ का ठाट-बाट, ये चक्रवर्ती की छह खण्ड की विभूतियाँ - ये पुण्य की धधकती प्रचुर ज्वालाएँ हैं, इनमें हम अनंत बार झुलसे हैं, परन्तु कहीं आत्मिक सुख की परछायी भी नहीं दिखी है। हे माते! अपने चैतन्य के अक्षय-निधान के शाश्वत सुख का भोग करने के लिए अब एक समय का भी विलंब करना श्रेष्ठ नहीं है।

आहाहा...! सिद्धप्रभु के समान अतीन्द्रिय आनंद का किंचित् स्वाद हम अभी भी ले सकते हैं। हम अशरीरी प्रभु की प्रभुता को अवलोक कर उसमें ही लीन होकर अभी अपुनर्भव के लिए क्यों न प्रस्थान करें? क्यों न कषायों का शमन करके आत्मा में रमण करें? क्यों न वर्तमान ज्ञान में शाश्वत ज्ञायक का अवलोकन करें? क्यों न आनंदमयी जीवन जीवें? हे माते! आप शोक-संताप तज कर हम सभी को वीतरागी निर्ग्रन्थ संतों के पथ पर अनुगमन करने की स्वीकृति शीघ्र प्रदान कीजिए।''

अन्त में माता जिनमती विचारती हैं - ''बात तो परम सत्य है, इसमें शंका की गुंजाइश ही नहीं। यह परम पवित्र वीतरागी मार्ग शाश्वत सुख का दाता है। इसलिए मोह का वमन करके अब हम सभी को इसी पथ का अनुसरण करना श्रेष्ठ है।''

ऐसी भावना से चारों वधुओं सहित माता जिनमती ने भी दीक्षा

हेतु वन की ओर प्रस्थान कर दिया।

अहो! श्री जम्बूकुमार की वनयात्रा में राजा, पिता एवं नगरवासी सभी कुमार की पालकी हाथों-हाथ ले जाते हुए वीरशासन एवं वैरागी कुमार की महिमा से आकंठ-पूरित हृदय से चल रहे हैं। पीछे-पीछे माता जिनमती एवं चारों वधुएँ भी वैराग्यरस की अभिवृद्धि करती हुई चल रही हैं।

जिस वन में परमपूज्य गुरुवर श्री सुधर्माचार्य विराजमान थे, अब वह स्थान निकट आ गया है। जब सभी जन चारों ओर का नजारा देखते हैं, तब उन्हें आश्चर्य होता है कि चारों ओर के वन-वृक्ष फल-फूल से युक्त शोभ रहे हैं - "अरे! ये क्या है? क्या इन वृक्षों को भी जम्बूकुमार के वीतरागी पथ का हर्ष हो रहा है? क्या ये मीठे मधुर फल अपने स्वाद के विकास के द्वारा मुक्ति का आनंदमयी स्वाद चखने को प्रेरित कर रहे हैं? या ये शीतल मंद सुगंधमयी पवन शांत स्वभाव की शाश्वत शीतलता का आनंद बहाने के लिए ही बह रही है? क्या ये निरालंबी वृक्ष-समूह कुमार को निरालंबी चैतन्य के अनंत गुण समूह में मग्न होकर स्वावलम्बन का मार्ग दिखा रहे हैं? क्या ये चारों ओर की वसुधा सनाथ होकर अनाथों को सनाथ बनकर जीने का संदेश दे रही है? धन्य जिनशासन! धन्य वीतरागियों की वीतरागता! धन्य भव-अंत का पंथ! आपका साथ पशु-पक्षी, नर-नारी, देव-देवियाँ सभी प्रमुदित चित्त से दे रहे हैं।"

पालकी में विराजमान जम्बूकुमार अपलक पूज्य गुरुवर के पावन दर्शन के लिए लालायित हैं। दूर से ही गुरुवर को अस्ति-स्वभाव की मस्ति में मस्त देख कुमार पालकी को तत्काल वहीं रोक देते हैं और तत्काल पालकी से उतरकर अति शीघ्रता से गुरुपद-पंकज को पाने के लिए पैदल चल देते हैं। जैसे अनेक वर्षों के विरह के बाद अपने राज्य को लौटने वाले श्रीरामचन्द्रजी एवं सीतामाता से मिलने के लिए भरत आतुर हो उठे थे और तब वे चारों तरफ निहारते थे और कहते थे -

"अरे वायुमंडल! क्या तुममें यह शीतलता क्या मेरे भ्रात के स्पर्श से आई है? हे नभमंडल में विचरण करने वाले पक्षीगण!

क्या तुम अपनी ध्वनियों से मेरे भ्रात के आगमन का संदेश सुना रहे हो? अरे भानु की प्रकाशमयी किरणों! क्या तुम मेरे भ्रात का दर्शन करने उदित हुई हो? अरे हर्षायमान वातावरण! क्या तुम भ्रात-वियोग की अशांति को शमन करने को प्रस्तुत हुए हो? हे वृक्ष-मंडल! क्या आप मेरे भ्रात के आगमन की खुशी में झूम-झूमकर नाच रहे हो?''

बस, यही दशा श्री जम्बूकुमार की अपने गुरुवर से मिलने के लिये हो रही है। कुमार वैराग्यमूर्ति पूज्य गुरुवर के निकट पहुँचे। वहाँ वे प्रथम ही गुरुवर को अष्टांग नमस्कार करके उनको तीन प्रदक्षिणा देकर गुरु-चरणों में हाथ जोड़कर खड़े हो गये। कुमार सामने खड़े हो देखते हैं कि गुरुवर ज्ञान-वैराग्य रस में झूल रहे हैं, उनकी मुख-मुद्रा से शांत-प्रशांत रस झर रहा है। कुमार हाथ जोड़कर नतमस्तक होकर नमस्कार करते हुए बोले - ''हे स्वामिन्! हे नाथ! हे गुरुवर! मेरा चित्त संसार की अशरणता से, संयोग की अनित्यता से एवं आस्रवों की अशुचिता से थक चुका है, इसलिए हे प्रभुवर! मैं शीघ्र ही आत्मिक अतीन्द्रिय प्रचुर स्वसंवेदन से आत्मा को विभूषित करने के लिए परम पवित्र जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ। अत: हे नाथ! मुझ पर कृपा पर अनुगृहीत कीजिए।''

चरमशरीरी एवं अंतिम केवली के जीव की पात्रता से तो आचार्यवर परिचित थे ही। आचार्यवर ने उछलते हुए वैराग्य रसमयी परिणामों से युक्त कुमार को वैराग्यरस में प्रचुरता लाने हेतु जिन-दीक्षा की आज्ञा दे दी।

कुमार ने गुरुवर की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए तत्काल ही समस्त वस्त्राभूषण अपने शरीर पर से उतार दिये। अपने मुकुट के आगे लटकने वाली पुष्पमाला को तोड़कर इस तरह दूर फेंक दिया, जैसे नाक को छिनक कर दूर फेंक देते हैं। रत्नमयी मुकुट को शीघ्र ही उतारा, मानों उन्होंने मोहरूपी राजा के सर्व मान को ही जीत लिया है। कंठ में से हार इस तरह दूर किया, जैसे अपराधी फाँसी के बंधन को उग्र पुरुषार्थ से तोड़कर समूल नष्ट कर देता है। अंगुलियों में से अंगुठियों को ऐसे दूर किया, जैसे ध्यानस्थ योगी के विकार एवं कर्म निकलकर पलायमान हो जाते

हैं। शरीर की सुन्दरता के कारणभूत वस्त्रों को भी ऐसे उतार फेंका, मानो चतुर पुरुष ने माया की अनेक परतों को ही फेंक दिया हो। मणियों से वेष्टित कमर की करधनी को इस तरह तोड़ डाला, मानो संसार के वैरागी ने संसार का दृढ़ बंधन ही तोड़ डाला हो। फिर कानों के दोनों कुंडलों को ऐसे निकाल दिये, मानो संसार रूपी रथ के दोनों पहियों को ही तोड़ डाला।

फिर स्वामी ने अपने ही दोनों हाथों से शास्त्रोक्त विधि अनुसार लीलामात्र में पंच-मुष्टि से अपने केशों का लोच किया। उसी समय **"ॐ नमः सिद्धेभ्यः"** मंत्र का उच्चारण करके पूज्य श्रीगुरु की आज्ञा से क्रम से शुद्ध अट्ठाईस मूलगुणों को ग्रहण करते हुए परम दिगम्बर दशा को प्राप्त किया।

वास्तव में तो आत्मिक आनंद में अभिवृद्धिरूप प्रचुर स्वसंवेदनरूप एक ही मुलगुण है। जो मूलरूप एवं हितरूप हो, उसे मूलगुण अथवा मुख्य गुण कहते हैं। अकषाय परिणति के साथ कुछ कषायांश जीवित है, इसलिए शांति के सरोवर में से बाहर आने पर इसप्रकार का शुभ भाव आता है। उसके अट्ठाईस भेद (या चौरासी लाख उत्तर भेद) पड़ जाते हैं, जिन्हें मुनिराज के २८ मूलगुणों के रूप में कहा जाता है। वे इसप्रकार हैं :-

मुनियों के २८ मूलगुण

(१-५) पाँच महाव्रत

(१) अहिंसा महाव्रत :- जो त्रस-स्थावर जीवों की सभी प्रकार की हिंसा सम्बन्धी अव्रत के त्यागरूप होता है अर्थात् प्रयत्नपरायण को हिंसा परिणाम का अभाव होने से अहिंसा महाव्रत होता है। परमार्थ से तीन कषाय चौकड़ी के अभाव रूप परम शांति के वेदन स्वरूप अहिंसा भाव प्रगट होने से निश्चय अहिंसा महाव्रत है।

(२) सत्य महाव्रत :- अशब्द स्वभावी आत्मा का आश्रय लिया होने से जो स्थूल एवं सूक्ष्म किसी भी प्रकार झूठ नहीं बोलते, बल्कि झूठ बोलने का विकल्प भी नहीं आता - ऐसे आसन्नभव्य जीव को यह सत्य महाव्रत होता है।

(३) अस्तेय महाव्रत :- जिन पदार्थों का कोई मालिक हो, ऐसे पदार्थ मालिक के दिये बिना ग्रहण नहीं करते। जिन पदार्थों का कोई मालिक न हो, ऐसे जंगल की मिट्टी एवं झरने आदि के सूर्य की किरणों से प्रासुक जल को कभी कदाचित् प्रसंग पड़ने पर बिना दिये ग्रहण करते हैं, हमेशा नहीं। चूंकि उसका कोई स्वामी न होने से उसे लेने में चोरी का दोष नहीं लगता। निश्चय में श्रद्धा एवं स्थिरता दोनों प्रकार से परद्रव्य का ग्रहण छूट गया होने से उन्हें परमार्थ अस्तेय महाव्रत होता है।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत :- मुनिराज को चेतन, अचेतन, काष्ट, चित्राम आदि की स्त्रियों के भोग का मन-वचन-काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना से अर्थात् नव कोटियों से त्याग होता है। मुनिराज अठारह हजार शील गुणों के पालक होते हैं। पूर्व के भोगों को ज्ञानपट पर भी नहीं लाते, वर्तमान में पूर्णरूप से त्याग करते हैं। और भविष्य की वाँछा का भी त्याग करते हैं। तथा ब्रह्मस्वरूप निजात्मा में रमणता करने से वे निश्चय ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारक होते हैं।

(५) परिग्रह-त्याग महाव्रत :- इसमें अंतरंग एवं बहिरंग के भेद से चौबीस प्रकार के परिग्रह का नवकोटि से त्याग होता है। जब अपरिग्रही ज्ञायक परमात्मा का ग्रहण हो गया, ज्ञान में ज्ञायक की प्रतिष्ठा हो गई, तब कोई भी आकांक्षा शेष न रहने से मुनिराज निश्चय से अपरिग्रही होते हैं।

(६-१०) पाँच समिति

(६) ईर्या समिति :- ईर्या अर्थात् पथ पर गमन, समिति अर्थात् सम्यक्प्रकार से अवलोकन करके अर्थात् मुनिराज एक धुरा (चार हाथ) प्रमाण भूमि को देखकर दिन में चलते हैं। भव-भय से डरने वाले, कंचन-कामिनी के संग को छोड़कर अपूर्व सहज अभेद चैतन्य-चमत्कार में स्थिर रहकर सम्यक्स्वरूप परिणमित होते हैं, यही परमार्थ से ईर्या समिति है।

(७) भाषा समिति :- पैशून्य (चुगली), हास्य, कर्कश, पर-निन्दा और आत्म-प्रशंसारूप वचन के परित्यागी होते हैं अर्थात् मुनिराज हित-मित-प्रिय वचन बोलते हैं, जो श्रोताजनों के - भव्यजीवों के

कर्णों में अमृत के समान मधुर लगें। परमब्रह्म के अनुष्ठान में निरत मुनिजनों को अन्तर्जल्प से भी बस होओ, बहिर्जल्प की तो बात ही क्या? यही परमार्थ से भाषा समिति है।

(८) एषणा समिति :- एषणा अर्थात् भोजन को अच्छी तरह देखकर, शोधकर, ४६ दोष एवं ३२ अंतराय को टालते हुए **नवधाभक्ति** अर्थात् (१) प्रतिग्रह, (२) उच्चासन, (३) पाद-प्रक्षालन, (४) अर्चन, (५) प्रणाम, (६) मनशुद्धि, (७) वचनशुद्धि, (८) कायशुद्धि और (९) भिक्षाशुद्धि पूर्वक एवं **सात गुण** (१) श्रद्धा, (२) शक्ति, (३) अलुब्धता, (४) भक्ति, (५) ज्ञान, (६) दया और (७) क्षमा गुणों से युक्त दाता के द्वारा दिया हुआ शुद्ध एवं प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं। परमार्थ से भगवान आत्मा में छह प्रकार का अशन न होने से वह अनशन स्वभावी ही है, उसका ग्रहण करना ही परमार्थ से एषणा समिति है।

(९) आदान-निक्षेपण समिति :- मुनिराज पीछी, कमंडलु एवं जिनवाणी को देखकर रखते हैं एवं देखकर ही उठाते हैं अर्थात् यत्नाचार पूर्वक क्रिया करते हैं। अपहृत संयमियों को परमागम के अर्थ का पुनः पुनः प्रत्यभिज्ञान होने में कारणभूत ऐसा ग्रन्थ (शास्त्र) वह ज्ञान का उपकरण है। कायविशुद्धि के हेतुभूत शौच के उपकरण कमंडलु एवं संयम के उपकरण पीछी को उठाते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली प्रयत्नरूप परिणाम-विशुद्धि ही परमार्थ से आदान-निक्षेपण समिति है।

(१०) प्रतिष्ठापन समिति :- मुनिराज मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं का निर्जन्तु-स्थान अवलोकन करके विसर्जन करते हैं। वास्तव में आत्मा में देह का अभाव होने से अन्न-ग्रहण रूप परिणति नहीं होती, इसलिए मल-मूत्रादि विसर्जन का प्रश्न ही नहीं रहता। यही परमार्थ से प्रतिष्ठापन समिति है।

अहो! धन्य मुनिराज आप अपने चैतन्य प्रभु को राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि से एवं मन-वचन-काय से भिन्न जानकर उसी में तन्मय होकर परमार्थ दया के धनी हो गए हो, इसलिए आपकी सभी क्रियायें यत्नाचार पूर्वक सहज होती हैं। आपकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की चर्या निज भगवान आत्मा में होने से अर्थात् सभी की गति आत्मा में

हो गई होने से, अनुपचार रत्नत्रयरूपी मार्ग पर सम्यक् गति ही परमार्थ समिति है और ये समितियाँ सत् दीक्षा रूपी कान्ता की सखी होने से मुक्ति-साम्राज्य का मूल है।

(११-१५) पंचेन्द्रिय-विजय

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण - ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनमें से स्पर्शन इन्द्रिय के आठ, रसना इन्द्रिय के पाँच, घ्राणेन्द्रिय के दो, चक्षुरेन्द्रिय के पाँच और कर्णेन्द्रिय के दो विषय हैं। इन सभी पर मुनिराज विजय प्राप्त करते हैं -

(११) स्पर्शनेन्द्रिय विजय :- हलका-भारी, कड़ा-नरम, ठंडा-गरम, रुखा-चिकना - ये आठ स्पर्शनेन्द्रिय के विषय हैं। मुनिराज कठोर जमीन, पाषाण आदि के मिलने पर खिन्न नहीं होते, नरम आसन आदि पर तो मुनिराज बैठते ही नहीं, क्योंकि उनके तो सर्व परिग्रह का नव कोटि से त्याग ही होता है। जंगलवासी संत तो गर्मी से तप्त शिलादि हो या ठंड से हिम समान पाषाणादि हों, शीतकाल में ठंडी-ठंडी हवा चलती हो या ग्रीष्मकाल ऐसी गर्म हवा चलती हो कि जिससे भयंकर लू आदि लग जाती है; परंतु संतों को तो सबमें समता भाव है। वर्षाकाल में वे वृक्षों के नीचे ध्यानस्थ खड़े रहते हैं। चाहे सिर पर वर्षा की धारा बह रही हो अथवा शीतकाल में समुद्रों के किनारे बर्फ जम गया हो अथवा ग्रीष्मकाल में पर्वत की शिखा पर शरीर को जला देनेवाला तापमान हो; परन्तु समता की मूर्ति मुनिराज आराधना से विचलित नहीं होते।

(१२) रसनेन्द्रिय विजय :- खट्टा, मीठा, कड़वा, चिरपरा और कषायला, सरस या नीरस, स्वादिष्ट या बे-स्वाद, ठंडा या गर्म, कैसा भी भोजन मिल जाय, अथवा अंतराय हो जाय, जिसमें पानी ही न ले पावें, इसप्रकार कई दिनों तक पानी आदि के अभाव में प्राण भी छूट जाते हैं, परन्तु धीर-वीर साधु अपनी आराधना में अडिग रहते हैं।

(१३) घ्राणेन्द्रिय विजय :- घोर जंगल में कहीं से अति दुर्गन्ध आती हो, कोई कषायी जीव ने आकर पास में ही अग्नि में पशु आदि होमे हों, उससे उत्पन्न दुर्गन्ध आदि सहन नहीं कर

सकते हों, ऐसी परिस्थिति बन जाये और चातुर्मास होने से कहीं अन्यत्र विहार भी न कर सकते हों, इत्यादि विषम परिस्थिति में मुनिराज समता के धारी होते हैं।

(१४) चक्षुरिन्द्रिय विजय :- सुन्दर या कुरूप आदि वस्तुयें दिखने में आ जावें, संसार में नानाप्रकार के हिंसा कारक प्रसंग दीख जावें, स्त्री आदि के सुन्दर रूप को देखकर, उनके मधुर वचनों को सुनकर, उनकी हाव-भावपूर्ण चेष्टाओं को देखकर विचलित नहीं होते एवं कोई स्तुति-प्रशंसादि करे, अर्घ्य अर्पण करे अथवा कोई घानी में पेले, प्रलयकारी आंधी चल रही हो, कोई सूली पर चढ़ावे, अग्नि में जलाये इत्यादि प्रकार से उपसर्ग-परीषहों में सदा जय-करण-शील होते हैं।

(१५) कर्णेन्द्रिय विजय :- कोई शुभ या अशुभ वचन कहे, कठोर मर्म-भेदक भय-उत्पादक या मधुर कर्ण-प्रिय इत्यादि नानाप्रकार के शब्द कहे, परन्तु देहातीत दशा के साधक मुनिकुंजर अपने अतीन्द्रिय ज्ञायक प्रभु की प्रभुता में ही तल्लीन रहते हैं।

इसप्रकार बाह्य में अनेक प्रकार से पंचेन्द्रियों के अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग आ जाने पर भी इन्द्रिय-विजयी संतों का उनके सन्मुख लक्ष्य ही नहीं जाता, उन्हें आत्मिक शाश्वत शांति से बाहर निकलना ही नहीं सुहाता और कदाचित् पुरुषार्थ की कमजोरी वश उपयोग बाहर आ जाता है तो पुनः आत्म-रमणता के बल से अन्दर चले जाते हैं। इन्द्रियों के लक्ष्य से उनके उपयोग की बरबादी नहीं होती, यही इन्द्रिय-विजय है।

(१६-२१) छह आवश्यक क्रियायें :-

अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कहते हैं। सम्यक् रत्नत्रय ही नियम से करने योग्य आवश्यक कार्य है, इसलिए परमार्थ से वह एक ही आवश्यक है, परन्तु साधक भूमिका में पुरुषार्थ की कमजोरीवश प्रशस्त राग रूप प्रवर्तन होने से छह प्रकार की आवश्यक क्रियायें होती हैं, क्योंकि धर्मात्माओं को बाह्य निमित्त धर्मायतन एवं धर्मात्मा का ही हुआ करता है, इसलिए ये छह प्रकार की क्रियाएँ भी सहज होती हैं :-

(१६) सामायिक :- समता का आयतन निज ज्ञानानंदमयी आत्मा है, उसमें उपयोग की स्थिरता होना ही परमार्थ सामायिक है और बाह्य में एकांत स्थान में पद्मासन या खड्गासन धारण कर सामायिक आदि के पाठ करना, पंच परमेष्ठी के नाम का जाप करना, चारों दिशाओं में चार शिरोनति एवं बारह आवर्त तथा नमस्कार आदि क्रिया करना व्यवहार सामायिक है। दोनों प्रकार की सामायिक मुनिराज को सहज होती हैं। सामायिक चारित्र के धनी तपोधनों का जीवन ही सामायिक है। प्रथम कर्तव्य भी यही है। मुनिराज को दिन-रात में चार बार ही सामायिक करना - ऐसा नियम नहीं होता, वे तो चौबीसों घण्टे हर अंतमुहूर्त में प्रमत्त से अप्रमत्त होते ही रहते हैं, इसलिए उन्हें सदा सामायिकवत् क्रिया होती रहती है।

(१७) प्रतिक्रमण :- पूर्व में कमजोरी वश हुए दोषों से अपने उपयोग को वापस निर्दोष स्थिति में लाना अर्थात् स्वभाव में स्थिर होना, यह परमार्थ प्रतिक्रमण है। अशुभ भावों में प्रवर्तन अप्रतिक्रमण है और शुभ भावों में प्रवर्तन प्रतिक्रमण है, परन्तु इन दोनों अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण से रहित स्वरूप-स्थिरता रूप तीसरी भूमिका परमार्थ प्रतिक्रमण है। उसमें मुनिराज सतत परायण रहते हैं।

(१८) प्रत्याख्यान :- जो स्वरूप-स्थिरता वर्तमान में प्राप्त है, उसकी क्षण-प्रतिक्षण वृद्धि करना अर्थात् भविष्य में भी निर्दोष ही रहना, यही परमार्थ प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग है। अदोष-निर्दोष ज्ञायक प्रभु की प्रभुता का निरंतर आनंद लेना ही दोषों का त्याग है। अप्रतिहत भाव को धारण करने वाले वीतरागी संतों के पास दोष फटक भी नहीं पाते, उन्हें अस्ताचल की राह ग्रहण कर निःसत्त्व होना ही पड़ता है। अरे, गुणों के निधान में दोष कैसे? नहीं, नहीं, कभी नहीं।

(१९) स्तुति :- अपना साधना की पूर्णता को प्राप्त चौबीसों तीर्थंकरों का गुण-स्तवन करना स्तुति है। परमार्थ से स्तुति के योग्य कोई है तो मुझे मेरा भगवान आत्मा ही है। इसलिए जिन-भगवंतो ने मेरा प्रभु मुझे बताया, हे प्रभु! आपके उपकार की महिमा से उपकृत होकर मैं आपका गुणानुवाद करता हूँ।

दर्श-ज्ञान-सुख-बल के नंत स्वामी,
छियालीस गुणयुत महाईश नामी।
तेरी दिव्य वाणी सदा भव्य मानी,
महा मोह विध्वंसनी मोक्ष दानी॥

(२०) वंदना :- अन्दर में एक ज्ञायक आत्मा का ध्यान और बाहर में एक तीर्थंकर प्रभु का गुणगान तथा अपने आठों ही अंगों को नमाकर, झुकाकर नमस्कार करना यह भी व्यवहार से वंदना है। और वंद्य-वंदक भाव के अभाव पूर्वक स्वरूप-लीनता परमार्थ वंदना है।

(२१) कायोत्सर्ग :- निर्ममत्व निज ज्ञायक आत्मा में रमकर काया के प्रति ममत्व का नहीं होना परमार्थ कायोत्सर्ग है। सर्व प्रकार से दिगम्बर दशा ही निर्मोहीपने की प्रतीक है। नानाप्रकार के उपसर्ग, परीषहों के आने पर भी उनका मन-सुमेरु नहीं डिगता है। काया के प्रति ऐसे वर्तते हैं, मानो अशरीरी ही हो गये हों।

निश्चय से अपने वश में रहना ही परमावश्यक है, जो कि विविधताओं से रहित है, जिसके कोई भेद नहीं है, जो अभेद स्वरूप है।

(२२-२८) शेष सात गुण :-

(२२) आलुंचन (केशलोंच) :- आत्मिक सुन्दरता में तृप्त मुनिराज को मुख-सुन्दरता के कारणभूत ऐसे केशों से क्या प्रयोजन है? अतीन्द्रिय आनंद, वीतरागता, परम शांति ही हमारी सुन्दरता है, शोभा है। शरीर सुन्दर दिखो या मत दिखो, परन्तु केशों से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है, इसलिए हिंसा के साधनभूत ऐसे केशों का मुनिराज लुंचन कर देते हैं। आलुंचन अर्थात् जिसमें से कुछ लोचा न जा सके, कुछ निकाला न जा सके, कुछ लूटा न जा सके - ऐसा मेरा आत्मा ही वास्तव में आलुंचन है।

(२३) अचेलकपना (नग्नत्व) :- मैं स्वरूप से ही अचेलक हूँ। मेरे में दस प्रकार के वस्त्रों का तो तो अभाव ही है, परन्तु वस्त्रों के ग्रहण-त्याग के विकल्पों का भी अभाव है। शाश्वत अचेलक स्वभाव की मग्नता में, बाह्य वस्त्रों का सहज ही त्याग वर्तता है।

(२४) स्नान-त्याग :- मैं अनादि-अनंत पवित्रतामय ही हूँ। मेरे वर्तन में भावकर्म नहीं, द्रव्यकर्म नहीं और तन-मन-इन्द्रियों रूपी नोकर्म भी नहीं। मेरा ज्ञायक ज्ञान से ही निर्मित है। मलिनता, अपवित्रता एवं अशुचिता का मुझे स्पर्श ही नहीं है। आंतरिक दृष्टि की पवित्रता के साथ पुण्य का भी ऐसा ही सुमेल हुआ करता है कि यह अचेतन देह भी स्वभाव से अपवित्र होने पर भी पवित्र ही बन जाती है, उसे स्नान कराने की आवश्यकता ही नहीं रहती और फिर स्नान कराये भी कौन? जब देह पर लक्ष्य ही नहीं रहा है तथा उस संबंधी राग ही नष्ट हो गया है, तब स्नान करे कौन और कराये कौन?

जो जल स्वयं ही अनेक प्रकार की अशुचिता से मलिन है, वह भला इस देह को पवित्र कैसे कर सकता है? बाह्य अशुचिता तो कदाचित् कुछ समय के लिये दूर भी की जा सकती है, परन्तु यह शरीर तो अपवित्रता से ही निर्मित है, उसे कैसे पवित्र किया जा सकता है? इसलिए स्वरूप-निष्ठ योगियों को स्नान का भाव ही नहीं उठता। दूसरे मुनिराज तो अहिंसा महाव्रत के धारी हैं, वे किसी भी जीव को बाधा पहुँचा करके अपना प्रयोजन नहीं साधते।

(२५) प्रासुक भूमि में शयन :- जहाँ सूक्ष्म या बादर जन्तुओं का निवास न हो, ऐसी निर्जन्तु भूमि तथा जो धूप एवं वायु से सहज ही शुद्ध हो, ऐसे स्थान पर मुनिराज तिष्ठते हैं। जिनकी परिणति सतत स्वरूप-मन्थर है, चैतन्य की सुख-शैय्या पर जिनका विश्राम है - ऐसे मुनिवर-वृन्दों की दिशायें ही अम्बर हैं, प्रासुक भूमि ही शैय्या है और आकाश ही ओढ़ना है। वैराग्यरस में सराबोर वीतरागी संतों को निद्रा ही कहाँ है? सदा जागरूक रहनेवाले मुक्ति-पथिक को न-जैसी निद्रा होती है, परन्तु उसका प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। शारीरिक कमजोरी के कारण थोड़ा-सा शयन रात्रि के पिछले प्रहर में करते हैं, फिर भी सदा ज्ञान-वैराग्य की संभाल में सावधान रहते हैं।

(२६) दंतधोवन का त्याग :- सदा निर्मलतामयी स्वरूप की मूर्ति को देखनेवाले वैरागियों को, दाँतों को निर्मल करके उनकी शोभा बढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं है। जीवनभर दातून नहीं करने

वाले योगियों के मुख से सदा सुगंध निकलती है, साथ ही औषध ऋद्धि हो जाने पर उनके कफ आदि औषधियों का काम करते हैं।

(२७) स्थिति भोजन (खड़े-खड़े भोजन) :- नित्यानंद भोजी, अतीन्द्रिय आनंद के रसास्वादी संतों को स्वरूपानंद के भोग में अंतराय करनेवाली भोजन की वृत्ति उठती है तो वे उसे भी दंडित करते हैं, क्योंकि उस वृत्ति को साकार करने हेतु उन्हें असंयमीजनों के सहवास में जाना पड़ता है, इसलिए इस वृत्ति के दंडस्वरूप खड़े-खड़े अल्प एवं शुद्ध भोजन शीघ्र लेकर वन-खण्डादि में जाकर उसका प्रायश्चित्त कर लेते हैं अर्थात् असंयमीजनों के सहवास एवं मार्ग में चलने आदि से उत्पन्न हुए दोषों की शुद्धि के लिये ईर्यापथ शुद्धि करते हैं।

(२८) एक बार भोजन :- अनाहारी पद के साधकों को जब आहार की वृत्ति ही लम्बे समय के अंतराल से उठती है, तब बार-बार भोजन का तो प्रश्न ही नहीं रहता, अतः सहज ही एक बार भोजन का नियम सधता है। उस अति मंदराग रूप वृत्ति का उठना और भोजन के योग्य काल का होना, दोनों का सुमेल ही क्वचित् कदाचित् होता है, पश्चात् चर्या को निकलना और निरंतराय भोजन का होना ही दुर्लभ है और ऐसा मेल हो भी जावे तो निःपरिग्रही मुनिराज करपात्र में ही संयम के हेतु भोजन करते हैं।

इसप्रकार जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट ये २८ मूलगुण साधु परमेष्ठी के होते हैं, इन्हीं के उत्तर भेद चौरासी लाख भी होते हैं।

इसप्रकार श्री जम्बूस्वामी ने गुणों को धरनेवाले श्रेष्ठ गुरुवर्य से मुनिधर्म का चारित्र श्रवण कर द्रव्य-भावरूप अर्थात् बाह्य में यथाजात रूप एवं अंतरंग में शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म अंगीकार कर लिया। उस समय पूज्य गुरुवर की एवं श्री जम्बूस्वामी मुनिराज की राजा एवं नगरवासियों ने जय-जयकार की।

आत्मिक अतीन्द्रिय ज्ञानानंद का प्रचुर स्वाद ले-लेकर वीतरागी दिगम्बर संत श्री जम्बूस्वामीजी तो सिद्धों से बातें करने लगे। उनके अन्दर वीतरागता लबालब उछलने लगी। कैवल्य एवं सिद्धालय की

तैयारियाँ होने लगीं। वे अनंतानंत गुणमयी ध्रुव ज्ञायक प्रभु की प्रभुता में केलि करने लगे। संयोग एवं संयोगीभावों की अनित्यता, अशरणता, अशुचिता का विचार कर, निज प्रभु की शाश्वतता, सदा शरणशीलता, त्रिकाल शुचिता एवं पूर्णता को जानकर वे उसी में रम गये। बस, अब क्या था? जो भाता था, वह मिल गया।

शुद्धाचरणमयी जम्बूस्वामी मुनिवर को लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों प्रकार के जंगल प्राप्त हो गये। जं + गल = जंगल अर्थात् जमे-जमाये ध्रुव ज्ञायक प्रभु में परिणिति जम गई तो गलने योग्य मोह-राग-द्वेषादि गल गए। ऐसे जीवों का वास भी सहजपने वन-जंगल में ही हुआ करता है। वहाँ अप्रतिबद्ध विहारी हो एकाकी संयम की साधना करने लगे।

निर्ग्रन्थ जम्बूस्वामी की विरागता एवं उपशमरस झरती शांत मुद्रा को लख, कितने ही शुद्ध सम्यक्त्व धारी राजाओं ने भी अपनी आत्मा का प्रचुर स्वसंवेदन प्राप्त करने के लिये शुद्धोपयोगमयी एवं यथाजात रूप जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। लेकिन जो महाव्रत को धारण करने में असमर्थ थे, उन्होंने दो कषाय चौकड़ी के अभावस्वरूप आत्मरमणतारूप श्रावक के व्रत अंगीकार किये। कितने ही पात्र जीवों ने निजस्वरूप के दर्शन करानेवाला सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

आहाहा...! श्री जम्बूस्वामी के वैराग्य ने धर्म का मौसम ला दिया, सोई हुई चेतनाओं का वीर्य उछल पड़ा, उनके परिणाम धर्म गंगा में गोते लगाने लगे।

आइए! अब हम राजकुमार विद्युच्चर चोर एवं ५०० राजकुमार चोरों का क्या हुआ, उसे देखें।

मुनिपने में चोरों का परिवर्तन

जम्बूकुमार एवं उनकी नवपरिणीता चार रानियों की गुप्तरूप से चर्चा सुनने वाला विद्युच्चर चोर वास्तव में चोर नहीं था, परन्तु राजकुमार था। वह सम्पूर्ण कलाओं में कुशल हो गया था, अभी उसे चौर्यकला सीखना और शेष रह गयी थी, अत: उसने उसे भी सीखा और चौर्यकर्म करने लगा, इसलिए वह चोर नाम से

प्रसिद्ध हो गया। यही हालत उसके ५०० राजकुमार मित्रों की भी हुई थी, जो कि चौर्यकला में कुशलता प्राप्त करने के लिये चोरी करने लगे थे।

जम्बूकुमार एवं रानियों की चर्चा से प्रतिबोध को प्राप्त हो विद्युच्चर ने यह निर्णय किया कि जो गति जम्बूकुमार की होगी, वही मेरी होगी। श्री जम्बूकुमार के वैराग्य को देखकर विद्युच्चर चोर ने अपने ५०० चोर मित्रों सहित मिथ्यात्व एवं पंच-पापों को त्यागकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर जिनशासन की शरण अंगीकार कर ली।

[पाठकगण! आपको जम्बूकुमार का एक रात्रि के लिए विवाह करना एवं राजकुमारों का चौर्यकर्म देखकर बड़ा आश्चर्य होता होगा; - क्योंकि राग से विराग की ओर जाना, चौर्यभाव से मुनिदशा की ओर एकदम परिर्वतन होना, हम पुरुषार्थहीनों को आश्चर्यचकित कर देने के लिए काफी ही है, लेकिन यह कोई अनहोनी बात नहीं है। जब अन्तमुहूर्त पहले का मिथ्यादृष्टि अन्तर्मुहूर्त बाद सिद्ध भगवान बन सकता है, तब फिर इन्हें तो पलटने के लिए बहुत समय मिल गया।

अनंत सामर्थ्य की मूर्ति यह भगवान आत्मा जब अपना पौरुष स्फुरायमान करता है, तब वह अन्तर्मुहूर्त में कषायें एवं कर्मों को तोड़कर अशरीरी सिद्ध परमात्मा बन जाता है। बस, इसके साथ शर्त इतनी अवश्य है कि वह पहले से द्रव्यलिंग ग्रहण किए हुए होना चाहिए। जिसप्रकार कोटि वर्ष का स्वप्न भी जागृत होते ही शांत हो जाता है। उसीप्रकार अनादि के विभाव का शमन होने में देर नहीं लगती।]

जम्बूकुमार के परिवार की दीक्षा

जैसे मोती समुद्र के तल में रहने वाली सीप में ही बनते हैं, गजमुक्ता गजराज के मस्तक में ही पैदा होते हैं, वैसे ही चरमशरीरी जीव का अवतार पात्र जीवों की कुक्षी से ही होता है। श्रेष्ठी अर्हद्दास एवं जिनमती दोनों ही अति पात्र आत्मायें हैं। उन्होंने भी संसार, देह भोगों से उदास होकर वैराग्यवर्धनी बारह भावनाओं का चिंतवन किया और पूज्यवर श्री सुधर्माचार्य गुरुवर से भव-ताप-नाशिनी कर्म-क्षय-दायिनी

और वैराग्योत्पादनी जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार कर ली। तथा पूर्ण आनंद की अभिलाषिनी, निज स्वरूप की साधिका चारों वधुओं सहित जिनमती माता ने भी पूज्य श्री सुप्रभा गणीजी के निकट जाकर आर्यिका दीक्षा अंगीकार कर ली।

इसके बाद श्रेणिक राजा आदि श्री सुधर्माचार्य आदि मोक्षमंडली को नमस्कार करके अपने-अपने गृह की ओर चल दिये। रागियों के राग ने घर की राह ली और वैरागियों के वैराग्य ने मोक्ष की राह ग्रहण की। अहो! संतों का सत्समागम!! जिनकी पावन परिणति से यह अचेतन देह तो वैरागी बन ही जाती है, परन्तु जिनका एकक्षेत्रावगाहरूप संबंध नहीं है ऐसे ये पेड़-पौधे, ये वृक्ष-समूह, यह वसुधा, यह पवन आदि भी मानो वैरागियों का सान्निध्य पाकर वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं।

सम्पूर्ण वन में वीतरागी संत ही संत नजर आ रहे हैं। श्री जम्बूस्वामीजी सम्यक् रत्नत्रय से विभूषित हो अपने को कृतार्थ मानने लगे और कुछ दिनों के उपवास ग्रहण कर मौन आत्म-साधना में तल्लीन हो गये। श्री विद्युच्चर आदि ५०० मुनिराज तथा अर्हद्दास मुनिराज एवं अन्य राजा आदि जो मुनि हुए हैं; सभी यथाशक्ति उपवास धारण कर ध्यान करने लगे।

पूज्य सुप्रभा गणीजी के साथ पाँच नवीन आर्यिकायें भी अपनी शक्ति एवं भूमिका के योग्य ध्यान, अध्ययन में रत हो गईं। वे सब भी आत्मानंद का ध्यान कर रही हैं। उन्होंने भी अपनी पर्याय के योग्य उत्कृष्ट भूमिका का आरोहण किया है।

श्री जम्बूस्वामी मुनिराज का प्रथम आहार

उपवास पूर्ण होने पर दूसरे दिन श्री जम्बूस्वामी आदि मुनिराजों ने सिद्ध भक्ति की। उसके बाद सभी पारणा हेतु ईर्यासमिति-पूर्वक प्रासुक मार्ग पर चल कर शहर की ओर पधार रहे हैं।

श्री जम्बूस्वामी आदि मुनीन्द्रों ने राजगृह में प्रवेश किया। उनकी शांत-प्रशांत मुखमुद्रा एवं वैरागी वदन को दूर से देखते ही नगरवासियों में खुशी की लहर दौड़ गयी। अपने कुमार पधारे, अपने स्वामी

पधारे, अपने मुनिवर पधारे, इत्यादि कोलाहल की आवाज सुनकर सभीजन पूज्य मुनिवरों के दर्शन के लिए अपने-अपने घरों से बाहर भागे-भागे आये। पूज्य गुरुवर को देखकर सभी नमस्कार करके आपस में बातें करने लगे -

"हम सभी नगरवासी कितने भाग्यशाली हैं, जो अंतिम केवली के जीव ने हमारे नगर में जन्म लिया। हम उनके दर्शन से, साक्षात् समागम से एवं उनकी आनंददायिनी वाणी सुनकर कृतकृत्य हो गये। जो सभी राजकुमारों में भी श्रेष्ठ थे, वे ही आज मुनीश्वर बन गए। अब वे शूरवीर कर्मों से युद्ध करके जयलक्ष्मी (मोक्षलक्ष्मी) को प्राप्त करेंगे। आहाहा...! इतनी छोटी-सी उम्र में एवं कामदेव के रूपधारी कुमार ने कमाल कर दिया, सीधे साधु ही बन गये।"

श्रावकगण तो गुरुराज को देखते ही आश्चर्यचकित हो रहे हैं। धन्य है इस पवित्रात्मा को! मानो साक्षात् धर्म एवं पुण्य की ही मूर्ति आ रहे हैं, मानो चलते-फिरते सिद्ध ही पधार रहे हैं। भक्ति से भरे चित्त एवं आहारदान की भावना संजाये हुए श्रावकगण द्वार-प्रेक्षण कर रहे हैं। "अहो-अहो! धन्य प्रभो! धन्य प्रभो! पधारो, पधारो प्रभो!" - ऐसा कहकर इंतजार कर रहे हैं, इन्द्रिय-विजयी मुनिवर धन्य हैं। इसतरह श्रावकगण अनेक प्रकार से प्रमुदित हो रहे थे कि इतने में मुनीश्वर को नजदीक में आये देखकर सभी जन बोले - "हे स्वामी! नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु!"

पूज्य मुनिवर आकड़ी धारण किये हुए आये और उनकी विधि जिनदास श्रेष्ठी के यहाँ मिल जाने से वहीं खड़े हो गये। जिनदास आदि नवधाभक्ति पूर्वक पड़गाहन करते हुए बोल रहे हैं - "हे स्वामी! नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु! अत्र, अत्र, अत्र! तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ! मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि! आहार-जल शुद्ध है! हे स्वामी! भोजनशाला में प्रवेश कीजिए, भूमि शुद्ध है!"

जब पूज्य मुनिराज चौके में पधारे, तब जिनदास श्रेष्ठी पुनः निवेदन करते हैं - "हे स्वामी! उच्चासन पर विराजिए।"

पूज्य मुनिराज उच्चासन पर विराजमान हुए। श्रावकजनों ने मुनिराज का पाद-प्रक्षालन किया तथा पूजन की। उसके बाद मुनिराज ने खड़े

होकर अपनी ही अंजुलियों में ४६ दोष और ३२ अंतराल को टालते हुए शुद्ध प्रासुक आहार ग्रहण किया। अन्य श्रावकजनों ने भी भावभक्तिपूर्वक आहारदान दिया। अहो! जिनदास की धर्मपत्नी आदि महिलायें भोजन शोधकर जिनदासजी को दे रही थीं और जिनदासजी आदि श्रावक मुनिराज को आहार देते जा रहे थे।

इसतरह आहारदान की विधि सम्पन्न हुई। उसीसमय दर्शकजनों में यह चर्चा होने लगी कि मुनिराज कंधे पर अंजुली लगाकर आये हैं, इसका क्या कारण है?

उनमें से एक प्रबुद्ध दर्शक ने उत्तर दिया कि मुनिराज ने तो शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म अंगीकार किया था; परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी से थोड़ी आहारादि की वृत्ति उठती है तो उससे शुद्धोपयोग में भंग पड़ता है। उस वृत्ति को अर्थात् उस अतिमंद राग को भी नष्ट करने के लिए मुनिराज अटपटी प्रतिज्ञायें लिया करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उस प्रतिज्ञा के अनुकूल विधि मिल गई तो ही आहार लूँगा, नहीं तो उस वृत्ति को टूटकर शमन होना ही पड़ेगा अर्थात् वह वृत्ति शान्त हो ही जाती है। मुनिराज का प्रयत्न सदा आत्मसाधना का ही रहता है अर्थात् पुनः ऐसी वृत्ति उत्पन्न ही न हो - ऐसा रहता है। मुनिराज तो संयम के हेतु अल्प आहार लेते हैं। उनके आहार से श्रावकों को कोई तकलीफ नहीं होती, क्योंकि मुनिराज की भ्रामरी वृत्ति होती है। जैसे भ्रमर पुष्प का पराग भी चूस लेता है और पुष्प को कोई हानि भी नहीं पहुँचती।

जिनदास श्रेष्ठी के आँगन में आहारदान के अतिशय से पुष्पवृष्टि आदि पंचाश्चर्य हुये। उसके बाद शुद्धात्म आराधक योगीराज, दयावंत गुरुवर ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक चलते हुए वन की ओर गमन करते हुए अपने गुरुवर श्री सुधर्माचार्यजी के निकट आ गये।

महान ज्ञानी-ध्यानी-तेजस्वी श्री जम्बू मुनिराज को अब मात्र मोक्ष की भावना ही शेष है। वनवासी संत निरन्तर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और परमतप नामक चतुर्विध आराधनाओं में सदा अनुरक्त निरंजन निज कारण समयसार को आराधने लगे।

पूज्य सुधर्मस्वामी को केवलज्ञान-प्राप्ति

जो पंचाचार परायण हैं एवं आकिंचन्य के स्वामी हैं, जो अविचलित अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप के श्रद्धान-ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्ध निश्चय रत्नत्रय युक्त हैं, ऐसे श्री सुधर्माचार्यजी को कुछ वर्ष बाद आराधना की उग्रता के बल से स्वाभाविक केवलज्ञान सूर्य उदित हो गया। वे अनंत चतुष्टय के धारी वीतराग सर्वज्ञ बन गये। वे तीन लोक के ज्ञाता-दृष्टा हो गये।

सकलज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंद रस लीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरि रज रहस विहीन।।
सुध्यान में लवलीन हो जब घातिया चारों हने।
सर्वज्ञबोध विरागता को पा लिया जब आपने।।
उपदेश दे हितकर अनेकों भव्य निजसम कर लिये।
रवि ज्ञान किरण प्रकाश डालें वीर मेरे भी हिये।।

इसप्रकार सौधर्मइन्द्र आदि ने आकर श्री सुधर्म केवली परमात्मा की स्तुति की।

उत्कृष्ट तपोधन जम्बू मुनिराज

अनंतज्ञान के धनी श्री सुधर्मास्वामी केवली के चरणों में रहकर श्री जम्बू मुनिराज कठिन से कठिन तप तपते हुए निजानंद का पान करने लगे।

गुरुचरणों के समर्थन से उत्पन्न हुई निजात्म-महिमा का श्री जम्बू मुनिराज ने अनुभव किया है, वे अपने सहज चैतन्यमय आत्मा में निज आत्मिक गुणों से समृद्ध होकर वर्त रहे हैं। परम पारिणामिक पंचमभाव में स्थिरता के कारण वे परमोपेक्षा संयमी हो बारह प्रकार के तप करने लगे। तीन रत्नों को प्रगट करने के लिये इच्छानिरोध को तप कहा है।

१२ तपों का वर्णन

तप के अन्तरंग व बहिरंग के भेद से दो प्रकार हैं। उनमें से प्रथम छह बहिरंग तपों को कहते हैं।

छह बहिरंग तप

(१) अनशन (उपवास) :- अनशन का अर्थ अशन नहीं करना। अनशन स्वभावी आत्मा की साधना करनेवाले साधु को बुभुक्षा की बाधा होने पर भी चार प्रकार के निर्दोष आहार का त्याग करना अनशन तप है। इसे **अनेषणा** भी कहते हैं परन्तु अनेषणा और अनशन में मौलिक अन्तर है। एषणा की इच्छा न होने पर साधु अनशन की प्रतिज्ञा करता है, इसलिए अनेषणा साधन है और अनशन उसका फल है और अन् का अर्थ ईषत् भी है। इसलिए चार प्रकार के आहार में एक या दो या तीन प्रकार के आहार का त्याग करना भी अनेषणा तप है। शुद्ध बुद्ध स्वरूप आत्मा के उप अर्थात् समीप में बसने का नाम **उपवास** है - ऐसा तीर्थंकर गणधरदेव आदि ने कहा है। यही परमार्थ से अनशन तप है।

(२) अवमौदर्य (ऊनोदर) :- इसीप्रकार अपने-अपने योग्य शुद्ध प्रासुक आहार में से कम आहार करना अवमौदर्य तप है। साधु को आहार में अति आसक्ति नहीं होती, वे संयम के हेतु अल्प आहार लेकर अपनी आत्मसाधना में रत रहते हैं। यही अवमौदर्य तप है।

(३) वृत्ति-परिसंख्यान :- वृत्ति की मर्यादा ही वृत्ति-परिसंख्यान तप है। मुनिराज आहार चर्या को निकलने के पहले घर, गली, व्यक्ति आदि की मर्यादा कर लेते हैं कि इतने ही घर में जाऊँगा, इतनी ही गली में जाऊँगा और इसप्रकार के व्यक्ति से इतना ही आहार लूँगा इत्यादि। यही वृत्ति-परिसंख्यान तप है।

(४) रस-परित्याग :- मुनिराज इन्द्रिय विषयों को विष के समान मानकर आत्म-साधना हेतु नीरस भोजन करते हैं। कभी तो छहों रसों का त्याग कर देते हैं, कभी पाँच-चार-तीन आदि रसों को त्याग कर भोजन करते हैं, कभी मात्र चावल या मात्र प्रासुक जल ही का भोजन करके इच्छा का निरोध करते हैं। यही रस-परित्याग तप है।

(५) विविक्त शय्यासन :- यतीश्वर राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले आसन, शय्या एवं इन्द्रिय-विषयों से विरक्त होने के कारण

कभी श्मशान भूमि में, वन में, गुफा में, पर्वत के शिखर आदि एकान्त स्थान में वास करते हुए आत्माराधना करते हैं। यही विविक्त शय्याशन तप है। एकान्त स्थान में ध्यान और अध्ययन की निर्विघ्न साधना होती है। जो वसतिका उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों से रहित हो, वही मुनिराज के योग्य होती है। यही विविक्त शय्यासन तप है।

(६) **कायक्लेश :-** तपस्वी मुनि दु:सह उपसर्ग को जीतने वाले होते हैं। आतापन, शीत, वात, पित्तादि, उष्ण पवन, शिला आदि, भूख-प्यासादि सभी प्रकार के उपसर्ग-परीषहों में समभाव रखते हैं। महीनों आहारादि न मिलने पर भी काया के प्रति निर्ममत्वपने वर्तते हैं। यही कायक्लेश तप है।

अंतरंग तप भी छह प्रकार के होते हैं, जो इसप्रकार हैं :-

छह अंतरंग तप

(७) **प्रायश्चित्त :-** प्राय: अर्थात् प्रकृष्ट चारित्र, वह जिसे हो उसे भी प्राय: कहते हैं अथवा प्राय: अर्थात् साधु लोग, उनका चित्त जिस काम में हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं, अत: जो आत्मा की विशुद्धि करता है, वह प्रायश्चित्त है। अथवा प्राय: अर्थात् अपराध, उसकी चित्त अर्थात् शुद्धि को प्रायश्चित्त कहते हैं। मन, वचन, काय, द्वारा दोष नहीं करते, नहीं कराते और करने वालों की अनुमोदना भी नहीं करते अर्थात् अपने व्रतों को पूर्णतया निर्दोष पालते हैं। यही प्रायश्चित्त तप है।

(८) **विनय :-** दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार - इसतरह पाँच प्रकार के विनय के भेदों को एवं अनेक प्रकार से उत्तर विनय को मुनिराज पालते हैं। वे स्व के रत्नत्रय की विनय पूर्वक रत्नत्रय के धारकों की विनय करते हुए तप करते हैं। यही विनय तप है।

(९) **वैयावृत्य :-** आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ - इन दस प्रकार के मुनियों का उपकार करना वैयावृत्य तप है। अपने रत्नत्रय की साधना करते

हुए अन्य वृद्ध, रोगी आदि साधुओं को उठाना-बैठाना, धर्मोपदेश देना, हाथ-पैर दबाना आदि क्रिया को वैयावृत्य तप कहते हैं।

(१०) स्वाध्याय :- स्व अर्थात् आत्मा के हित के लिए अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं अथवा सुष्ठु रीति से पूर्वापर विरोध रहित शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय है। यह तप परनिन्दा से निरपेक्ष होता है। राग-द्वेष का नाशक, तत्त्व का निर्णय कराने वाला एवं ध्यान की सिद्धि का कारण होता है। अपनी आत्मा को अपवित्र शरीरादि से भिन्न एक ज्ञायक स्वरूप जानना ही सब शास्त्रों को जानना है। यही स्वाध्याय तप है।

(११) व्युत्सर्ग अथवा कायोत्सर्ग :- काय अर्थात् शरीर के उत्सर्ग अर्थात् ममत्व त्याग को कायोत्सर्ग कहते हैं। चौबीस प्रकार के परिग्रह को त्यागकर शरीर में असह्य वेदना आ जाने पर भी इलाज नहीं इच्छते। पसीना आदि के निमित्त से धूल आदि का चिपकना और मुँह, नाक आदि के मल को धोने आदि शारीरिक संस्कार से उदासीनता रखते हैं। भोजन, शय्या आदि में निरपेक्ष भाव है और आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं। शत्रु-मित्र में, कांच-कंचन में, महल-मशान में साम्यभाव के धारी वीतरागी संत कायोत्सर्ग तप में संलग्न रहते हैं और प्रायोपगमन समाधिमरण की साधना कर निश्चल खड़े हो कायोत्सर्ग करते हैं। यही व्युत्सर्ग अथवा कायोत्सर्ग तप है।

(१२) ध्यान :- धर्म से युक्त ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं। मोह-क्षोभ से रहित निज चैतन्य स्वरूप में निश्चल अत्यंत निर्विकार परिणति का होना ध्यान तप है। ऐसे धर्म-शुक्लध्यान को श्री मुनिराज ध्याते हैं।

इसतरह से इन बारह प्रकार के तपों में प्रथम अनशन तप से लेकर अंतिम ध्यान तप तक उत्तरोत्तर इच्छाओं का विशेष-विशेष निरोध होता जाता है और आत्मलीनता बढ़ती जाती है।

इस तरह द्वादश तपों से युक्त जम्बूस्वामी तपोधन अब द्वादशांग जिनवाणी के ज्ञाता हो गये हैं।

श्री सुधर्म केवली का निर्वाण

द्वादशांग वाणी के ज्ञाता श्री जम्बूस्वामी मुनिराज ने अठारह वर्षों तक उग्र-उग्र तप करते हुए इस भूतल को धर्मामृत के सिंचन से पवित्र किया। धन्य सुकाल और धन्य घड़ी, श्री सुधर्मस्वामी केवली प्रभु और श्री जम्बूस्वामी श्रुतकेवली मुनिराज! आहाहा... अनुपम साध्य-साधक आत्माओं का संगम!! भव्य जीवों को तो आत्म-साधना का सुअवसर मिल गया। केवली प्रभु की दिव्यध्वनि खिरती थी, जिसे श्रवण कर भव्यों की पात्रता पकती थी। अनेक भव्यात्माओं ने धर्म धारण किया।

पश्चात् माघ सुदी सप्तमी के दिन परम पूज्य सुधर्म प्रभु ने शेष चार अघातिया कर्मों को नष्ट कर विपुलाचल पर्वत (विपुलगिरी) से मुक्ति को प्राप्त किया। उसी समय स्वर्गों से इन्द्रों ने आकर सिद्ध भगवान की भावभक्ति पूर्वक स्तुति एवं पूजन की।

निर्बाध, अनुपम अरु अतीन्द्रिय पुण्य-पाप-विहीन हैं।
निश्चल निरालम्बन अमर पुनरागमन से हीन हैं।

परम योगीराज श्री जम्बूस्वामी ने भी नानाप्रकार के गुणों द्वारा सिद्धप्रभु की स्तुति की। उनके अन्दर में प्रभु द्वारा सिद्धदशा प्राप्ति का हर्ष है, लेकिन केवलज्ञान सूर्य के वियोग का विरह भी है।

जम्बूस्वामी को केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्ति

परम तपोधन श्री जम्बूस्वामी ने भी अपने प्रचंड पौरुष से उसी दिन (माघ सुदी सप्तमी) जब आधा पहर दिन बाकी था, तभी केवलज्ञानरूपी मार्तंड को उदित कर लिया। सभी उपस्थित ने इसतरह जय, जयकार किया - णमो अरहंताणं! हे अनंतचतुष्टयवंत विभो! हे मुक्तिकांता के प्रिय! हे निर्वाणनाथ! आपकी जय हो, जय हो।

तभी देवगण भी आकर केवलज्ञान प्राप्त प्रभु को नमस्कार करके तीन प्रदक्षिणा देते हुए प्रभु की जयजयकार करने लगे। उसके बाद उन्होंने अनुपम अष्ट द्रव्यों से प्रभु की पूजन स्तुति की।

चौंतीस अतिशययुक्त अरु घन घातिकर्म विमुक्त हैं।
अर्हंत श्री कैवल्य ज्ञानादिक परम गुण युक्त हैं॥

इसतरह नाना प्रकार से प्रभु की स्तुति करके अपने को कृतार्थ मानते हुए सभी देवतागण अपने स्थान पर बैठ गये। पश्चात् इस पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊपर आकाश में स्थित गंधकुटी में अंतरीक्ष विराजमान श्री जम्बूस्वामी जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि खिरी, जिसे पीकर भव्यजीवों ने सम्यग्दर्शन, श्रावकव्रत तथा मुनिव्रत आदि का ग्रहण किया।

इसतरह जम्बूस्वामी भगवान मगध से लेकर अन्य अनेक देशों में अठारह वर्षों तक विहार तथा धर्मामृत की वर्षा करते हुए मथुरा[१] पहुँचे।

अनन्तच तुष्टयवंत प्रभु शैलेश्वर विभु अब आवर्जित करण (मोक्ष की तैयारी) के द्वारा योग-निरोध करके, पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण के समय तक अयोगदशा में वर्तकर अशरीरी सिद्ध भगवान बन गये। अब तो वे सादि-अनंत सुख के भोक्ता हो गये, अनंत अव्याबाध अनुपम अतीन्द्रिय आनंद से सराबोर हो गये। उनका उपयोग अब आत्मिक शाश्वत आनंद के नंदनवन में विचरण करने लगा।

अहो...! पुण्यशालियों का भाग्य कोई अद्भुत रूप से फल रहा है। श्री वीर प्रभु का निर्वाण हुआ तो श्री गौतम स्वामी को केवलज्ञान हुआ, श्री गौतमस्वामी का निर्वाण हुआ तो श्री सुधर्मस्वामी को केवलज्ञान हुआ और श्री सुधर्मप्रभु का निर्वाण हुआ तो भी जम्बूस्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। और फिर जब श्री जम्बूस्वामी का निर्वाण हुआ तो उसके बाद अनुबद्ध केवली तो नहीं हुए, परन्तु कुछ समय के बाद श्रीधर मुनिराज को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है। उनके बाद इस कर्मभूमि में केवलज्ञान लक्ष्मी का विरह पड़ गया। धन्य काल और धन्य घड़ी! एक ही दिन में सुबह निर्वाण-भक्ति तो दोपहर में केवलज्ञान-भक्ति! उस काल की छटा, जीवों के भाव, उनका वैरागी रस का सुधापान! अरे अलौकिक! अलौकिक!!

---

१. श्री जम्बूस्वामी चरित्र बड़े ग्रन्थ में प्राकृत गाथा एवं हिन्दी में 'विपुलगिरि से मोक्ष पधारे' - ऐसा पाठ है और श्री राजमलजी कृत जम्बूस्वामी चरित्र में 'विपुलाचल से मोक्ष पधारे', लिखा है, परंतु 'मथुरा से मोक्ष गये' - ये दोनों ही ग्रन्थों में नहीं लिखा, न ही निर्वाण की तिथि ही लिखी है। हो सकता है मथुरा के नजदीक में कोई पर्वत हो और जिसका नाम विपुलगिरि हो।

इन्द्रों द्वारा सिद्ध भक्ति-पूजन

अशरीरी सिद्ध भगवान, आदर्श तुम्हीं मेरे।
अविरुद्ध शुद्ध चिद्घन, उत्कर्ष तुम्हीं मेरे॥ टेक॥

सम्यक्त्व सुदर्शन ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहन।
सूक्ष्मत्व वीर्य गुणखान, निर्बाधित सुख-वेदन॥
हे गुण अनन्त के धाम, वन्दन अगणित मेरे॥ १॥

रागादि रहित निर्मल, जन्मादि रहित अविकल।
कुल-गोत्र रहित निश्कुल, मायादि रहित निश्छल॥
रहते निज में निश्चल, निष्कर्म साध्य मेरे ॥ २॥

रागादि रहित उपयोग, ज्ञायक प्रतिभासी हो।
स्वाश्रित शाश्वत सुखभोग, शुद्धात्म विलासी हो॥
हे स्वयं सिद्ध भगवान, तुम साध्य बनो मेरे॥ ३॥

भविजन तुम-सम निजरूप, ध्याकर तुम सम होते।
चैतन्य पिण्ड शिवभूप, होकर सब दुःख खोते॥
चैतन्यराज सुखखान, दुःख दूर करो मेरे ॥ ४॥

इसप्रकार सभी ने अनुपम अष्ट द्रव्यों से पूजन एवं भक्ति की, उसके बाद सभी अपने अपने स्थान चले गये।

ध्यान ज्ञान में लवलीन श्री अर्हद्दास मुनिवर भी समाधिमरणपूर्वक देह का त्यागकर छट्ठे देवलोक को पधारे और श्री जिनमती आर्यिकाजी ने भी उग्र आराधना के बल से स्त्रीलिंग का छेदन किया और समाधिपूर्वक मरण कर उन्होंने भी छट्ठे ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में इन्द्र पद प्राप्त किया तथा चारों वधुयें जो आर्यिका हुई थीं, उन्होंने भी चंपापुरी जाकर श्री वासुपूज्य भगवान के जिनालय में समाधिपूर्वक देह का त्यागकर, स्त्रीलिंग छेदकर स्वर्ग में अहमिन्द्र[१] पद प्राप्त किया।

---

१. राजमलजी कृत श्री जम्बूस्वामी चरित्र में लिखा है कि स्वर्ग में देवी हुईं और भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित श्री जम्बूस्वामिचरित्र पृष्ठ २१६ में लिखा है। कि अहमिन्द्र हुईं।

मोक्षसुख का वर्णन

मोक्षसुख के समान अन्य कोई भी सुख नहीं है और निश्चयरत्नत्रय से परिणत आत्मा ही मोक्षमार्ग है अर्थात् मोक्ष का कारण है। शुक्लध्यान के बल से चार घातिया कर्मों का नाश करके जो अनंत चतुष्टय युक्त श्री अरहंत परमेष्ठी सकल सिद्धान्तों के प्रकाशक हैं, वे सिद्ध परमात्मा को सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं, उन्हें सिद्धि के इच्छुक संत साधु पुरुष सदा ध्याते हैं।

वे केवलज्ञानादि अनंत गुणों को धारण करने से महान अर्थात् सबसे बड़े हैं। ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से, मोह-राग-द्वेषादि भावकर्मों से एवं शरीरादि नोकर्मों से भी वे रहित हैं तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सहित हैं। क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, सूक्ष्मत्व अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व - इन आठ गुणों से मंडित हैं। उन्होंने विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न वीतरागी चारित्र से विपरीत आर्त-रौद्र आदि का ध्यान और शुभ-अशुभ कर्मों का, स्वसंवेदनज्ञान रूप शुक्लध्यान से क्षय करके अक्षय पद पा लिया है।

सहज शुद्ध परमानंदमय एक अखण्ड स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ आत्मिक अनंत अव्याबाध, अविनाशी, अतीन्द्रिय सुख है, वह अविच्छिन्न है। जो केवलज्ञान, केवलदर्शनरूप सूर्य से सकल लोकालोक के त्रिकालवर्ती अनंत द्रव्य-गुण-पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्ष जानते हैं, जो चारों गतियों के अभाव के कारण संसार-परिभ्रमण से रहित हैं तथा लोक के अग्रभाग में ही जिनका सदा निवास है - ऐसे कार्यपरमात्मारूप श्री जम्बूस्वामी भगवान सिद्ध परमात्मा बन गये।

हो आयु क्षय से शेष सब ही कर्म प्रकृति विनाश रे।
सत्वर समय में पहुँचते अरहन्त प्रभु लोकाग्र रे॥
बिन कर्म परम विशुद्ध जन्म जरा मरण से हीन हैं।
ज्ञानादि चार स्वभावमय, अक्षय अछेद अछीन हैं॥
दुःख-सुख इन्द्रिय नहीं जहाँ, नहिं और बाधा है नहीं।
नहिं जन्म है नहिं मरण है, निर्वाण जानो रे वहीं॥
इन्द्रिय जहाँ नहिं मोह नहिं, उपसर्ग विस्मय भी नहीं।

निद्रा क्षुधा तृष्णा नहिं, निर्वाण जानो रे वहीं॥
रे कर्म नहिं नोकर्म चिंता, आर्त-रौद्र जहाँ नहीं।
है धर्म शुक्ल सुध्यान नहिं, निर्वाण जानो रे वहीं॥

दृग ज्ञान केवल सौख्य केवल और केवल वीर्यता।
होती उन्हें सप्रदेशता, अस्तित्व मूर्ति-विहीनता॥

निर्वाण ही तो सिद्ध है, है सिद्ध ही निर्वाण रे।
हो कर्म से प्रविमुक्त आत्मा, पहुँचता लोकान्त रे॥

इसप्रकार अनिर्वचनीय आत्मिक अनुपम सुख के भोक्ता श्री जम्बूस्वामी सिद्ध भगवंत को नमस्कार हो।

मथुरा में मुनि विद्युच्चर

एकादश अंग के धारक श्री विद्युच्चर मुनिराज अनेक वन-जंगलों में विहार करते हुए मथुरा नगर के उद्यान में पधारे। साथ में ५०० से भी अधिक मुनिवर वृन्दों का संघ है। सभी योगिराज तल्लीनतापूर्वक निजात्मा में बारंबार उपयोग ले जाकर शाश्वत आनंद का रसपान कर रहे हैं। साथ ही वीतरागता वर्धक ग्रन्थों का पठन-पाठन करते हैं।

इसी बीच एक दिन चंद्रमारी नाम की कोई वनदेवी आकर यतीश्वरों को प्रणाम करके कहती है - "हे गुरुवर! आज से लेकर पाँच दिन तक यहाँ भूत-प्रेतादि आकर आपके ऊपर घोरातिघोर उपसर्ग करेंगे, जिसे आप सहन नहीं कर सकोगे, इसलिए आपको यहाँ से विहार कर जाना ही श्रेष्ठ होगा। ज्ञानियों को उचित है कि संयम व ध्यान की सिद्धि के लिये ऐसे अशुभ निमित्तों से हट जावें।"

इतना कहकर वह देवी अपने स्थान पर चली गई। यद्यपि सभी मुनीश्वर आत्मिक आनंद में केलि कर रहे हैं, सभी उपसर्ग-परीषहों पर जय-करण-शील है, चतुर्गति संसार में भ्रमते हुए अनंतानंत उपसर्ग-परीषहों को संतप्त होते हुए सहे हैं, अब तो मात्र बाईस ही परीषह शेष रहे हैं, वे भी सहन नहीं करना है, बल्कि उन पर जय प्राप्त करना है, इसप्रकार सभी कर्मक्षय करने में दक्ष हैं। जैनेश्वरी प्रवज्या में अंतरंग-बहिरंग में छत्तीस का आंकड़ा है। अन्दर में आनंद ही

आनंद और बाहर में डग-डग पर उपसर्ग ही उपसर्ग और परीषह ही परीषह होते हैं, परन्तु मोक्षसुख के अभिलाषियों के लिए आत्मानंद के उपभोग के सामने उपसर्ग-परीषह क्या दम रखते हैं?

फिर भी गुरुराज का कर्तव्य है कि वे संघस्थ मुनिराजों को विपत्ति का ज्ञान करावें, जिससे सभी के भावों का पता चल सके, इसलिए श्री विद्युच्चर ने अपने संघ को कहा - "यहाँ पाँच-पाँच दिन तक घोर उपसर्ग होगा, इसलिए अपने को अन्यत्र विहार करना योग्य रहेगा।"

तब मेरु समान अकंप सभी मुनिवरवृन्दों ने हाथ जोड़कर गुरुराज से कहा - "हे गुरुवर! हम सभी को वैराग्य की वृद्धि में हेतुभूत उपसर्गों पर विजय प्राप्त करना ही श्रेष्ठ है। हम सभी ने अतीन्द्रिय आनन्द के बल से उपसर्गों पर जय प्राप्त करने के लिये ही दीक्षा ली है। कायर बनकर उपसर्गों से दूर भागना जैन यतियों का कर्तव्य नहीं है प्रभो!"

संघस्थ सभी मुनियों की वैराग्यवर्धक भावनाओं को जानकर श्री विद्युच्चर मुनिराज को भी संतोष हुआ, पश्चात् दिनकर अस्ताचल की ओर चला गया। वीतरागी यतीश्वर रात्रि में आत्म-साधना की उग्रता के लिए प्रतिमायोग धारण कर लेते हैं। श्री विद्युच्चर मुनिराज सहित सभी मुनिवर कायोत्सर्ग धारण कर निर्भयी आत्मा में विचरने लगे।

घोर उपसर्ग में भी अपूर्व शांति

अंधकार ने अपना पूर्ण साम्राज्य जमा लिया था। नेत्रों से कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। तभी भूत, प्रेत एवं राक्षसों ने आकर अपना भयानक रूप दिखाकर चारों ओर भागना, दौड़ना प्रारंभ कर दिया और भयानक स्वर से चिल्लाने लगे। कितने ही तो डाँस, मच्छर बनकर मुनिवरों को काटने लगे। कितने ही सर्प के समान फुफकारने लगे। कितने ही तीक्ष्ण नख व चोंचधारी मुर्गे बनकर सताने लगे। कितनों ने रक्त से मस्तक, हाथ, पैर रंग लिये। कितनों ने निर्धूम अग्नि के समान भयानक मुख बना लिये, कंठ में हड्डियों की मालाएँ बाँध लीं, लाल-लाल आँखें कर ली और मुख को

फाड़ते हुए आये। कितनों ने हाथों से मस्तक के बालों को फैला लिया, छाती पर रुण्डमाल डाल ली और हँसने लगे तथा 'इनको मारो, इनको मारो' - ऐसे भयानक शब्द करने लगे। कोई निर्दयी आकाश में खड़े होकर भी दूसरों को प्रेरणा करने लगा कि 'मारो, मारो'।

इस तरह पाप में रत राक्षसों ने जैसा मुनिवरों पर उपसर्ग किया, उसका वर्णन नहीं हो सकता है। अतीन्द्रिय आनंद के भोक्ता श्री विद्युच्चर आदि मुनिवरों ने इस नश्वर जीवन को अर्थात् शरीर को क्षणभंगुर जानकर अति शांतभाव से सन्यास धारण कर लिया। वे सब ध्यान में स्थिर हो गये। कितने ही मुनिराज स्वरूप के चिंतन-मनन में और कितने ही मुनिराज निश्चल ध्यान में मेरुपर्वत के समान स्थिर हैं। वे सभी ज्ञानी धर्मात्मा हैं, कर्म-विपाक के ज्ञाता हैं। सभी तपोधनों ने बारह भावनाओं को भाते हुए बाईस प्रकार के परीषहों पर जय प्राप्त की। वे परीषह इसप्रकार हैं :-

बाईस परीषहजय

(१) क्षुधा परीषहजय

मुनिराज को अनशनादि तप करते हुए महीनों बीत जाने पर भी भिक्षा की विधि नहीं मिलती। तन एकदम सूखकर लकड़ी जैसा हो जाने पर एवं भूख की असह्य वेदना होने पर भी जो मुनिराज अपने मन में जरा भी शिथिलता नहीं लाते, उन्हें मेरा हाथ जोड़कर नमस्कार हो।

(२) तृषा परीषहजय

पर के घर भिक्षा को जाना, प्रकृति के विरुद्ध पारणा में पानी आदि न मिलने पर रोगादि की अति तीव्रता होने से गर्मी में अति प्यास से, पित्तादि रोगों के कारण नेत्रादि फिरने लगें तो भी धीर-वीर मुनिराज पानी को नहीं चाहते, मुनिराज तो अपने स्वरूप में मग्न होकर आनंदामृत का पान करते हैं। ऐसे मुनिराज जगत में जयवंत वर्तो।

(३) शीत परीषहजय

शीतकाल में जब तीर के समान तीक्ष्ण झंझा वायु चलती है; जिससे वृक्ष भी काँपने लगते हैं, वर्षा ऋतु में मूसलाधार वर्षा, ओले आदि बरसते हैं; सरोवरों के तटों पर, वृक्ष के नीचे, वन-जंगलादि में अति शीत की बाधा के प्रसंग बनते हैं; पर श्रीगुरु अपनी आराधना में अचल रहते हैं। ऐसे तारण तरण मुनिराज संसार से स्वयं तरते हैं और दूसरों को भी तारते हैं।

(४) उष्ण परीषहजय

भूख, प्यास से पेट में जलन पड़ती हो, आँतें एवं शरीर अग्नि से जल गया हो, पर्वत की चोटी पर गर्म शिलादि हों, तीक्ष्ण लू लगने से दाह ज्वर आदि हो गया हो; फिर भी मुनीश्वर आत्मिक शांति में ही लीन रहते हैं अर्थात् अपनी धीरता को कभी नहीं छोड़ते।

(५) दंशमशक परीषहजय

वन-जंगल में सिंह, बाघ, रीछ, रोझ, बिच्छू, सर्प, कनखजूरे, दुष्ट वनचर पशु-पक्षी, डांस, मच्छर आदि द्वारा की गई भयंकर वेदनाओं में भी योगीराज समभाव से जय प्राप्त करते हैं। ऐसे स्व-पर के पापों को हरने वाले मुनीश्वर को मेरा नमस्कार हो।

(६) नग्न परीषहजय

दीन, हीन, विषयानुरागी, संसारी प्राणी अन्दर में विषय-वासना होने से एवं बाहर लोक-लज्जा के कारण नग्न नहीं हो सकते हैं; परन्तु महा ब्रह्मचारी यतीश्वर अन्तर-बाहर जन्मे हुए बालकवत् निर्विकारी होने से अपने स्वरूप में अर्थात् निर्ग्रन्थ स्वरूप में ही रहते है, उनके चरणों में मेरा नमस्कार हो।

(७) अरति परीषहजय

देश, काल का प्रतिकूल वातावरण हो, कलह, नगर-विनास, जंगल में अग्नि आदि लग का जाने से, बम आदि गिरने से अर्थात् अनेक प्रकार के प्रतिकूल वातावरण के प्रसंग उपस्थित होने से जगजन आकुल-व्याकुल होकर तड़फने लगते हैं, परन्तु परम तपोधन अपनी स्वाभाविक धीरता को कभी नहीं छोड़ते। ऐसे साधु महाराज हमारे हृदय में निरंतर बसो।

(८) स्त्री परीषहजय

जैसे शेरों में भी प्रधान केहरि शेर अपने से हीन शेर एवं हिरणादि को पकड़ लेते हैं। जैसे सर्प को पैर में दबा लेने वाले महायोद्धा, जिनकी जरा-सी नजर टेढ़ी हो तो करोड़ों शूरवीर दीन होकर उनकी शरण ग्रहण करने लग जाते हैं। उसी प्रकार महाबलवान पर्वत एवं कोटिशिला आदि को उठाकर चूर-चूर कर देते हैं, परन्तु ऐसे शूरवीर भी स्त्री के अधीन हो जाते हैं, परन्तु मोक्ष के साधक शूरवीर मुनीन्द्र सुमेरु के समान अकंप रहते हैं। उनका मन-सुमेरु जरा भी डिगता नहीं है। उन्हें मेरा नमस्कार हो।

(९) चर्या परीषहजय

बड़े-बड़े चक्रवर्ती, राजा-महाराजा, जो कि रथों में, विमानों में, पालकियों में चलते हैं, वे जब मुनि बनते हैं, तब चार हाथ भूमि देखकर कठोर कंकड़, काँटों आदि वाली भूमि पर कोमल पैर रखकर चलते हैं, पैरों में काँटे चुभ जाते हैं, खून की धार बहने लगती है, अति पीड़ा होती है; परन्तु मुनिकुंजर अपनी आत्मा में ही मग्न रहते हैं, उनको किसी भी प्रकार की बाधा नहीं होती और न ही उन्हें पूर्व काल के साधन याद आते हैं, उनकी अचलता एवं दृढ़ता को देखकर कर्मरूपी पर्वत नष्ट हो जाते हैं।

(१०) आसन परीषहजय

वन-जंगल में, गुफा में, कोटरादि में, शुद्ध प्रासुक कठोर भूमि में अथवा ठंडी, गर्म आदि शिला, भूमि आदि पर वर्षों ध्यान लगाकर बैठे हों, खड़े हों और मनुष्य, देव, तिर्यंच, या अचेतन कृत उपसर्ग आये हों, लेकिन फिर भी मुनिवर आसन छोड़कर व स्थान छोड़कर, अपनी स्थिरता छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते - ऐसे गुरुवर मेरे हृदय में सदा वास करो।

(११) शयन परीषहजय

सोने के महलों में रहने वाले, मणिरत्नों के पलंग एवं कोमल शय्या पर सोने वाले भी मुनिदशा में कठोर भूमि पर सोते हैं। जिसकी किनारें काँटे जैसी चुभती हैं, पत्थरों पर शयन करने से पीड़ा उत्पन्न होती है, लेकिन ऐसी दशा में भी मुनिवर जरा भी

विचलित नहीं होते, आत्मा में लीन होकर कर्म कलंक का दहन करते हैं।

(१२) आक्रोश परीषहजय

मुनिवरों को देखकर दुष्ट लोग, खल लोग, धर्मद्रोही जीव, क्रोध से तप्तायमान जन, उन्हें ठग छलिया, चोर, पाखंडी एवं भेषधारी कहते हैं। 'इन्हें मारो, पटको,' - ऐसे वचनों के तीर चुभाते हैं, लेकिन फिर भी शांति के निधान गुरुवर क्षमा-ढाल को ओढ़ लेते हैं।

(१३) वध-बंधन परीषहजय

सर्व जगत के परम मित्र निरपराधी मुनिराज को दुष्ट लोग मिलकर मारते हैं, खम्भे से बाँधते हैं, करोंत से काटते हैं, अग्नि में जलाते हैं और भी अनेक प्रकार से पीड़ा पहुँचाते हैं, लेकिन ऐसे प्रबल कर्मों के उदय में भी समता के सागर यतिराज अपनी स्वरूप की गुप्त गुफा में केलि करते हुए कैवल्य को प्राप्त कर लेते हैं - ऐसे गुरु मुझे भव-भव में शरण-सहाई हों।

(१४) याचना परीषहजय

अयाचीक वृत्तिवंत, घोर परिषहों को जीतने वाले, परम तपोधन, उत्कृष्ट तपों को करते हैं, उनके गले, भुजायें अर्थात् पूरा शरीर सूखकर हाड़-पिंजर हो जाने पर भी, आहार-पानी या औषधि नहीं मिलने पर भी, कभी किसी से किसी तरह की याचना नहीं करते और अपने व्रतों को भी, कभी मलिन नहीं करते। वे तो धर्म की शीतल छाया में ही सदा वास करते हैं।

(१५) अलाभ परीषहजय

आनंदामृत-भोजी मुनीन्द्र दिन में एक बार भोजन को निकलते हैं और कभी-कभी एक माह, दो माह आदि का लम्बा समय निकल जाने पर भी आहार नहीं मिलता है, शरीर शिथिल हो जाता है, लेकिन फिर भी वे कभी खेदखिन्न नहीं होते, बल्कि अनाहारी पद की साधना में लवलीन रहते-रहते सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं।

(१६) रोग परीषहजय

वात, पित्त, कफ और खून - इन चारों के घटने-बढ़ने से रोग का संयोग होता है, शरीर में जलन होने लगती है। उदर-पीड़ा होने लगती है, अंग-उपांग गलने लगते हैं इत्यादि रोगों के होने पर जगत के प्राणी कायरता धारण कर लेते हैं, विलाप करते हैं, दारुण वेदना से छूटने के लिए अग्नि आदि के द्वारा मर जाने का उपाय करते हैं, परन्तु देहातीत दशा के साधक मुनिराज आत्मा में ही लीन रहते हैं, अपने नियमों को रंचमात्र भी खंडित नहीं करते।

(१७) तृण-स्पर्श परीषहजय

सूखे तृण, तीक्ष्ण नोंक वाले कांटे, करोत के समान कंकड आदि से पैर कट जाते हैं; धूल, फाँस आदि आँखों में भर जाते है, चुभ जाते हैं, अति-पीड़ा-दायक होते हैं; लेकिन फिर भी उन्हें स्वयं नहीं निकालते, वे तो सदा अस्पर्श-स्वभावी आत्मा का ही सतत स्पर्श (अनुभव) करने वाले साधु अपने में ही लीन रहते हैं, उन्हें बाधायें छू भी नहीं पातीं - ऐसे गुरुवर हमें भव-भव में शरणभूत हों।

(१८) मल परीषहजय

अस्नानव्रत के धारी मुनीश्वर के शरीर से पसीना निकलने पर धूल आदि चिपक जाते हैं, शरीर मैला व घिनावना दिखने लगता है, लेकिन फिर भी शारीरिक मल को देखकर वे ग्लानि नहीं करते, उसे धोने या धुलाने की या कोई इसे पोंछ दे - ऐसी भावना कभी भी नहीं करते। वे तो निरन्तर अन्दर में ज्ञान-वैराग्य रस में सरावोर रहते हुए स्वभाव की शुचिता को ही अनुभवते हैं, उनके चरणों में मैं सिर नमाकर नमस्कार करता हूँ।

(१९) सत्कार-पुरस्कार परीषहजय

निज स्वरूप के साधकों को महान ज्ञान प्रगट हो गया हो, अनेक विद्यायें प्रगट हुई हों, अतुल गुणों के निधान हो गये हों, फिर भी उन्हें कोई न पूजे, नमस्कार न करे, योग्य विनय आदि न करे तो उससे वे गुण-रत्नाकर अपने मन में हीन भावना नहीं लाते, वे तो एकाकी आत्म-साधना द्वारा मुक्ति को प्राप्त कर लेते

हैं और जगतवंद्य हो जाते हैं, उन्हें मैं हाथ जोड़कर चरण पकड़कर नमस्कार करता हूँ।

(२०) प्रज्ञा परीषहजय

तर्क छंद व्याकरण आदि के वाचस्पति, गमकत्व आदि गुणों के धारी, जिनके सामने परवादी तो देख नहीं सकते अर्थात् टिक नहीं सकते, जिनका नाम सुनते ही प्रतिवादी पीछे भाग जावें, जैसे सिंहनाद सुनते ही वन के हाथी आदि भाग जाते हैं - ऐसे बुद्धि-ऋद्धि के धारक मुनीश्वर अपनी अस्ति की मस्ती में ही मस्त रहते हैं, उन्हें उसका जरा भी मद नहीं होता है।

(२१) अज्ञान परीषहजय

अतीन्द्रिय आत्मिक आनंद में केलि करते-करते बहुत समय हो जाने पर भी, व्रत समिति गुप्ति आदि का आगमानुसार आचरण होने पर भी, सकल संग के प्रति ममतारहित होने पर भी, अवधिज्ञान मन:पर्ययज्ञान या केवलज्ञान आदि ऋद्धियाँ प्रगट नहीं होतीं तो मुनिराज को ऐसा विकल्प भी नहीं आता कि मुझे इतने तपादि करते हुए इतना समय निकल जाने पर भी कोई ज्ञान-ऋद्धि क्यों नहीं प्रगट हुई? वे उनके अभाव में अपने में हीनता नहीं अनुभवते।

(२२) अदर्शन परीषहजय

बहुत समय तक घोर तप करने पर भी अभी तक कोई ऋद्धि या अतिशय नहीं प्रगटा और तप के बल से सभी सिद्धियाँ होती हैं - यह तो निश्चय है, परन्तु मुझे नहीं हुईं तो ये सब बातें झूठ सी लगती हैं - ऐसा भाव तपोधनों को कभी नहीं आता, वे तो अपने सम्यक् रत्नत्रय परम शांति रस में ही पगे रहते हैं, तल्लीन रहते हैं और कर्मों का क्षय करते हैं - ऐसे मुनिवर के **दर्शन** से पाप नष्ट हो जाते हैं।

इसप्रकार बाईस परीषह विजयी, नित्य आनंदामृत-भोजी तपोधनों को मेरा शत-शत बार प्रणाम हो।

बारह भावना

१. अनित्य भावना

मैं आत्मा नित्य स्वभावी हूँ, ना क्षणिक पदार्थों से नाता।
संयोग शरीर, कर्म, रागादिक, क्षणभंगुर जानो भ्राता।
इनका विश्वास नहीं चेतन, अब तो निज की पहिचान करो।
निज ध्रुव स्वभाव के आश्रय से, ही जन्म जरा मृतु रोग हरो॥

२. अशरण भावना

जो पापबंध के हैं निमित्त, वे लौकिक जन तो शरण नहीं।
पर सच्चे देव शास्त्र गुरु भी, अवलम्बन है व्यवहार महीं॥
निश्चय से वे भी मित्र अहो! उन सम नित लक्ष करो आत्मन्।
निज शाश्वत ज्ञायक ध्रुव स्वभाव ही एकमात्र है अवलम्बन॥

३. संसार भावना

ये बाह्य लोक संसार नहीं, ये तो मुझ सम सत् द्रव्य अरे।
नहिं किसी ने मुझको दुःख दिया, ना कोई मुझको सुखी करे॥
निज मोह, राग अरु द्वेषभाव से, दुख अनुभूति की अब तक।
अतएव भाव संसार तजूँ अरु भोगूँ सच्चा सुख अविकल॥

४. एकत्व भावना

मैं एक शुद्ध निर्मल अखण्ड, पर से न हुआ एकत्र कभी।
जिनको निज मान लिया मैंने, वे भी तो पर प्रत्यक्ष सभी॥
नहीं स्व-स्वामी सम्बन्ध बने, माना यह भूल रही मेरी।
निज में एकत्व मान करके, अब मेटूँ भव भव की फेरी॥

५. अन्यत्व भावना

जो भिन्न चतुष्टय वाले हैं, अत्यन्ताभाव सदा उनमें।
गुण पर्यय में अन्यत्व अरे, प्रदेश भेद ना है जिनमें॥
इस सम्बन्धी विपरीत मान्यता, से संसार बढ़ाया है।
निज तत्व समझ में आने से, समरस निज में ही पाया है॥

६. अशुचि भावना

है ज्ञान देह पावन मेरी, जड़ देह राग के योग्य नहीं।
यह तो मलमय मल से उपजी, मल तो सुखदायी कभी नहीं॥
भो आत्मन्! श्री गुरु ने रागादि को अशुचि अपवित्र कहा।
अब इनसे भिन्न परमपावन निज ज्ञानस्वरूप निहार अहा॥

७. आस्रव भावना

मिथ्यात्व कषाय योग द्वारा, कर्मों को नित्य बुलाया है।
शुभ-अशुभ भाव-क्रिया द्वारा, नित दुख का जाल बिछाया है॥
पिछले कर्मोदय में जुड़कर, कर्मों को ही छोड़ा बाँधा।
ना ज्ञाता-दृष्टा मात्र रहा, अब तक शिवमार्ग नहीं साधा॥

८. संवर भावना

मिथ्यात्व अभी सत् श्रद्धा से, व्रत से अविरति समाप्त करूँ।
मैं निज में रखूँ सावधानी, निःकषाय भाव उद्योत करूँ॥
शुभ-अशुभ योग से भिन्न आत्म में निष्कंपित हो जाऊँगा।
संवरमय ज्ञायक आश्रय कर, नव कर्म नहीं अपनाऊँगा॥

९. निर्जरा भावना

नव आस्रव पूर्वक कर्म तजे, इससे बन्धन न नष्ट हुआ।
अब कर्मोदय को ना देखूँ, ज्ञानी से यही विवेक मिला॥
इच्छा उत्पन्न नहीं होवे, बस कर्म स्वयं झड़ जावेंगे।
जब किंचित् नहीं विभाव रहे, गुण स्वयं प्रगट हो जायेंगे॥

१०. लोक भावना

परिवर्तन पंच अनेक किये, सम्पूर्ण लोक में भ्रमण किया।
ना कोई क्षेत्र रहा ऐसा, जिस पर ना हमने जन्म लिया॥
नरकों स्वर्गों में घूम चुका, अतएव आश सबकी छोडूँ।
लोकाग्र शिखर पर थिर होऊँ, बस निज को निज में ही जोडूँ॥

११. बोधिदुर्लभ भावना

सामग्री सभी सुलभ जग में, बहु बार मिली-छूटी मुझसे।
कल्याण-मूल रत्नत्रय परिणति, अब तक दूर रही मुझसे॥
इसलिए न सुख का लेश लिया, पर में चिरकाल गँवाया है।
सद्बोध हेतु पुरुषार्थ करूँ, अब उत्तम अवसर पाया है॥

१२. धर्म भावना

शुभ-अशुभ कषायों रहित होय, सम्यक्चारित्र प्रगटाऊँगा।
बस निजस्वभाव-साधन द्वारा, निर्मल अनर्घ्य पद पाऊँगा॥
माला तो बहुत जपी अबतक, अब निज में निज का ध्यान धरूँ।
कारण परमात्मा तो अब भी हूँ, पर्यय में प्रभुता प्रगट करूँ॥

ध्रुव स्वभाव सुखरूप है, उसको देखूँ आज।
दुःखमय राग विनष्ट हो, पाऊँ सिद्ध समाज॥

इसतरह श्री विद्युच्चर आदि मुनिवरों ने शाश्वत शरणभूत निज ज्ञायकस्वभाव की लीनता द्वारा संसार की अनित्यता, अशुचिता, अशरणता जानकर, शुद्धोपयोग में अभिवृद्धि करते हुए अर्थात् चैतन्यमयी आत्मा का प्रचुर स्वसंवेदन करते हुए अथवा बारह भावनाओं को भाते हुए सभी प्रकार के परीषहों पर जय प्राप्त की। उपसर्ग दूर होते ही विद्युच्चर मुनिराज आदि सभी मुनिन्द्रों सहित ऐसे शोभ रहे हैं, जैसे कि अग्नि-पाक से शुद्ध हुआ सोना शोभता है। उनके बदन के रोम-रोम में चैतन्य की वीतरागता झलकने लगी। चैतन्य के सारे ही गुण उपसर्ग-परीषह रूपी अग्नि से शुद्ध होकर बाहर झलकने लगे।

आहाहा...! जिनका आत्मद्रव्य आनंदमय, गुण आनंदमय, पर्याय आनंदमय, जिनकी स्वांस और प्रस्वांस आनंदमय, जिनकी चाल और ढाल आनंदमय, अहो! सम्पूर्ण जीवन आनंदमय, स्वयं के भोग और उपभोग आनंदमय और देखनेवालों को भी दिखें तो आनंदमय, उनकी वाणी आनंदमय! सर्वत्र चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद का ही साम्राज्य!

उपसर्ग के शांत होते ही सभी ने चार प्रकार की आराधनापूर्वक प्रातःकाल में समाधिपूर्वक इस नश्वर काया का त्याग कर दिया। श्री विद्युच्चर मुनीन्द्र सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये। वहाँ तेतीस सागर की आयु है। वहाँ मात्र दो ही काम हैं - एक निज ज्ञायकप्रभु की आराधना और दूसरी ज्ञानाराधना। वह ज्ञानाराधना भी कैसी? कि अपुनरुक्ति आराधना अर्थात् जिसकी पुनरुक्ति न हो। वहाँ से आकर वे विवेक-निधान मानव-भव धारण कर पूर्ण आराधना करके अपने धाम मोक्ष में जायेंगे। इसी प्रकार प्रभव आदि पाँच सौ मुनिकुंजर भी अपने-अपने परिणामों के अनुसार देह त्यागकर देव हुए।

उपसंहार

पूज्य श्री जम्बूस्वामी के इस वैराग्य-उत्पादक एवं प्रेरक चरित्र का पठन करते ही अन्दर से मन इसे लिखने के लिए उमड़ पड़ा, इसलिए जैनागम के अनुसार यह चरित्र लिखा गया है। हे जगत वंद्य जिनवाणी माता! सरस्वती माता! यदि प्रमाद से, बुद्धि की हीनता से शब्द, वाक्य, अर्थ आदि में कोई भूल हो गई हो तो क्षमा करना। शास्त्र तो अगाध सागर है, परम गंभीर है, दुस्तर है। मुझ-जैसे अल्पबुद्धिवानों से भूल होना स्वाभाविक है, इसलिए हे विशेषजन, **ज्ञानीजन**! भूल को क्षमा करें। "**सुधी सुधार पढ़ें सदा।**"

हे भव्यजीवों! श्री जम्बूस्वामीजी का यह चरित्र ज्ञान-वैराग्य प्राप्त करने में तथा विषय-कषाय से चित्त हटाने में रामबाण के समान अचूक औषधि है, इसलिए जो संसार-सागर से पार उतरना चाहते हैं, उन्हें इस ग्रन्थ का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

श्री चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का...

महापुराण



अपने चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों की महिमा, पूर्वभव, उनके द्वारा की गई अपूर्व आत्म-साधना और परमात्मा होकर उनके द्वारा दिया गया वीतरागी मोक्षमार्ग का उपदेश - इन सबका सुंदर एवं अभूतपूर्व वर्णन इस महापुराण में किया गया है। इसे पढ़ते हुए अत्याधिक आनन्द होता है, अपने भगवन्तों के प्रति परम बहुमान जागृत होता है और मोक्ष को साधने का उत्साह प्रगट होता है।

श्री तीर्थंकर भगवन्तों का यह महापुराण पढ़ते हुए आपकी आत्मा में एक नया ही वातावरण तैयार होगा... आपको ऐसा अनुभव होगा कि मानो **"मैं एक वीतरागी नगरी के पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के साथ ही रह रहा हूँ और उनके समान उत्कृष्ट जीवन जीने की कला सीख रहा हूँ।"** आपकी ऐसी ही उर्मियों (भावनाओं) को प्रकट करने वाले अनेकानेक प्रसंग इस पुराण में बारम्बार आयेंगे... बस एक बार इसमें प्रवेश करने की देर है... फिर तो इस वीतरागी नगरी में आपको इतना मजा आयेगा कि उससे बाहर निकलना अच्छा नहीं लगेगा।

यदि आप इस महापुराण को पढ़ना चाहते हैं तो कृपया सम्पर्क करें।

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा - खैरागढ़

खैरागढ़ - ४९१८८१, जिला - राजनाँदगाँव (म.प्र.)

श्री कहान स्मृति प्रकाश

सोनगढ़ - ३६४२५०, जिला - भावनगर

हमारे प्रकाशन



१. चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती)
(लगभग ५०० पृष्ठों का अद्वितीय प्रथमानुयोग ग्रन्थ)

२. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १)
३. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग २)
४. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ३)
५. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ४)

छोटी-छोटी कहानियों का अनुपम संग्रह

६. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ५)
(भगवान श्री हनुमान चरित्र)

७. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ६)
(अकलंक-निकलंक एवं श्रीकंठ राजा का वैराग्य)

८. जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ७)
(श्री जम्बूस्वामी चरित्र)

९. अनुपम संकलन
(लघु जिनवाणी संग्रह)

१०. पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र

११. विराग-सरिता